VISHVA–JYOTI REGD NO. PB-HSP-01 ISSN 0505-7523
(1.1.2021 TO 31.12.2023)
R.N. No. 1/57

मासिक पत्रिका (JOURNAL)

विश्वज्योति

(PEER REVIEWED JOURNAL)

(अभिनिर्देशित मासिक पत्रिका)

70वां वर्ष, 9 अंक, दिसम्बर 2021 ई०

संचालक–सम्पादक
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल

सह–सम्पादक
डॉ. देवराज शर्मा

प्रकाशन स्थान
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान
साधु आश्रम, होश्यारपुर–146021 (पंजाब, भारत)

सत्संग मन्दिर



संस्थान यज्ञशाला

वी. वी. आर. आई. सोसाईटी, होश्यारपुर (पंजाब) की ओर से प्रकाशक व मुद्रक
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल द्वारा वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट प्रैस, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर से छपवा कर, वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर-१४६ ०२१ (पंजाब) से २८-११-२०२१ को प्रकाशित।

ISSN 0505-7523

प्रकाशक
विश्वेश्वरानन्द–वैदिक–शोध–संस्थान
साधु आश्रम, होश्यारपुर–146021 (पंजाब, भारत)
(अभिनिर्देशित पत्रिका)
(PEER REVIEWED JOURNAL)

प्रकाशन–परामर्शदात्री समिति :

डॉ. दर्शन सिंह निर्वैर, आजीवन सदस्य, वि.वै. शोध संस्थान कार्यकारिणी समिति, साधु आश्रम, होश्यारपुर.

डॉ. (श्रीमती) कमल आनन्द, आदरी प्रोफैसर (वि.वै. शोध संस्थान, होश्यारपुर), 1581, पुष्पक कम्पलैक्स, सैक्टर 49–बी, चण्डीगढ़.

डॉ. जयप्रकाश शर्मा, 1486, पुष्पक कम्पलैक्स, सैक्टर 49–बी, चण्डीगढ़.

प्रो. जगदीश प्रसाद सेमवाल, आदरी प्रोफैसर (वि.वै. शोध संस्थान, होश्यारपुर), एफ–13, पंचशील इन्कलेव, जीरकपुर (मोहाली) पंजाब.

प्रि. उमेश चन्द्र शर्मा, पी.ई.एस.(I) रिटा0, शिवशक्ति नगर, होश्यारपुर.

प्रो. (सुश्री) रेणू कपिला, कोठी नं. बी–309, डी.सी. लिंक रोड, होशियारपुर (पंजाब).

डॉ. डी. रामकृष्णन, 301, वरुण एनक्लेव, एन.आर.पी. रोड, गाँधी नगर, विजयवाड़ा, आन्ध्रा प्रदेश–520 003

दूरभाष : कार्यालय : 01882–223581, 223582, 223606
संचालक (निवास) : 01882–244750
E-mail : vvrinstitute@gmail.com
vvr_institute@yahoo.co.in
Website : www.vvrinstitute.com
मुद्रक : विश्वेश्वरानन्द वैदिक–शोध–संस्थान प्रैस, होश्यारपुर (पंजाब)

निर्णायकमण्डल सदस्य (Review Committee)

- प्रो. रघवीर सिंह, वी.वी.बी. संस्कृत एवं भारतभारती अनुशीलन संस्थान (पंजाब विश्वविद्यालय पटल), साधु आश्रम, होश्यारपुर (पंजाब).
- प्रो. ललित प्रसाद गौड, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा).
- प्रो. प्रेम लाल शर्मा, वी.वी.बी. संस्कृत एवं भारतभारती अनुशीलन संस्थान (पंजाब विश्वविद्यालय पटल), साधु आश्रम, होश्यारपुर (पंजाब).
- प्रो वीरेन्द्र कुमार वेदालंकार, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़.
- प्रो. मुकेश कुमार अरोड़ा, हिन्दी विभाग, गवर्नमेंट कालेज, लुधियाना (पंजाब).
- डा. सुधांशु कुमार षडंगी, वी.वी.बी. संस्कृत एवं भारतभारती अनुशीलन संस्थान (पंजाब विश्वविद्यालय पटल), साधु आश्रम, होश्यारपुर (पंजाब).

ISSN 0505-7523

भारत में एक प्रति का मूल्य : १० रुपये.
विदेश में एक प्रति का मूल्य : ३ डालर.

प्रकाशन विषयक विशिष्ट नियम

१ विश्वज्योति अभिनिर्देशित पत्रिका **(Peer Reviewed Journal)** विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित की जाती है।

२ पत्रिका **(JOURNAL)** प्रत्येक मास की २८ तारीख को (अनिवार्य रूप से) प्रकाशित होती है।

३ इसका प्रकाशन वर्ष अप्रैल मास से प्रारम्भ होता है।

४ इसके अप्रैल-मई एवं जून-जुलाई के दो वार्षिक विशेषांक प्रकाशित होते हैं।

५ भविष्य में जो भी प्राध्यापक अथवा शोध-छात्र पदोन्नति या यत्र-तत्र नियुक्तिहेतु विश्वज्योति में लेख को छपवाना चाहते हैं, वे कम से कम ५ पृष्ठ का अथवा अधिक से अधिक ७ पृष्ठ तक का सटिप्पण अपना लेख भेजें, टिप्पण नीचे या लेख के अन्त में दे सकते हैं। ऐसे लेखों पर ही (Peer Reviewed Journal) का ISSN नम्बर छापा जायेगा।

विशेषः स्वतन्त्र रूप से लेख भेजने वाले विद्वान् लेखकों के लिए यह बन्धन नहीं है। वे स्वतन्त्रता से अपनी रचना, कविता एवं नाटक भेज सकते हैं।

६ संस्थान के पैटर्न सदस्य, आजीवन-सदस्य तथा वार्षिक-सदस्यों को विश्वज्योति निःशुल्क नियमतः भेजी जाती है।

७ अन्य संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं के साथ इसका विनियम भी किया जाता है।

८ विश्वज्योति सम्बन्धी पत्रव्यवहार संचालक अथवा सम्पादक के पते पर किया जा सकता है।

९ किसी संस्था, पुस्तकालय एवं विद्वान् के आग्रह पर हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार को ध्यान में रखते हुए उनको विश्वज्योति निःशुल्क भी भेजी जा सकती है।

१० विश्वज्योति में समालोचनार्थ समालोच्य पुस्तक या ग्रन्थ की दो प्रतियाँ भेजनी अनिवार्य हैं। जिस अंक में समालोचना प्रकाशित की जाती है, वह अंक लेखक को निःशुल्क भेजा जाता है।

११ विश्वज्योति का मूल्य निम्न प्रकार से है- भारत में एक प्रति का मूल्य १० रुः विदेश में ३ डालर। भारत में वार्षिक सदस्यता १०० रुः तथा विदेश में वार्षिक सदस्यता- ३० डालर। भारत में आजीवन सदस्यता १२०० रुः तथा विदेश में ३०० डालर है। विशेषाङ्क २ भाग भारत में ५० रुः तथा विदेश में १२ डालर हैं।

विशेषः- (क) लेखक को पारिश्रमिक देने का नियम नहीं है।

(ख) प्रकाशित लेख की एक प्रति लेखक को भेजी जाती है।

सम्पादक

विषय-सूची

लेखक	विषय	विधा	पृष्ठांक
श्री मदन मोहन साह	मुक्ति	लेख	८
डा. बलजीत कौर	सांख्यदर्शन में दुखत्रय एवं मोक्ष/ एक विश्लेषण	लेख	१६
श्री बाबूलाल शर्मा प्रेम	संकल्प	कविता	२०
डा. उमा रानी	उननिषदों में सदाचार (नैतिक शिक्षा)	लेख	२१
श्री ओमप्रकाश बजाज	संस्कार	कविता	२३
डा. सुरभि महाराज	पुण्य-पाप तथा विपाकसूत्र	लेख	२४
डॉ. रीना तालवाड़	महर्षि दयानन्द सरस्वती	लेख	३५
श्री भद्रसेन	प्रकाश-पूर्व की परम्परा	लेख	३९
सुश्री स्नेह लता	दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद और उसकी प्रासंगिकता	लेख	४३
	संस्थान-समाचार		५१
	पुण्य-पृष्ठ		५२-५४

विश्वज्योति

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात्॥ (ऋ. १,११३,१)

वर्ष ७० } होश्यारपुर, मार्गशीर्ष, २०७८; दिसम्बर २०२१ { संख्या ९

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे।।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः।।

(अयं) यह **(मानवजीवन रूपी)** लोक **(अपराजितः)** पराजय से मुक्त **(रहता हुआ ही)** देवताओं का **(प्रियतमः)** अत्यन्त प्रिय (बन सकता है) हे पुरुष! **(यस्मै)** जिस **(मृत्यवे)** मृत्यु के प्रति **(तुम समझते हो कि तुम अब) (दिष्टः जज्ञिषे)** संकल्पित हो चुके हो, **(हम)** तुम्हें उस **(के चंगुल)** से **(छुड़ाते हुए) (अनु)** पीछे **(लौट आने के लिए) (ह्वयामसि)** बुला लाते हैं। तुम **(पूरी) (जरसो)** आयु **(भोगने)** से **(पुरा)** पहले **(मा)** मत **(मृथाः)** मरो।

(वेदसार - विश्वबन्धुः)

सत्यं वद। धर्मं चर।

सदा सत्य बोलो (सत्य का आचरण ही श्रेष्ठ है)। अपने धर्म का पालन करो (अर्थात् अपने धर्म का त्याग मत करो)।

(उपनिषद्)

मुक्ति

- श्री मदन मोहन साह

प्रकृतिगत मानव की चार वृत्तियां हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष का अभिप्राय मुक्ति या छुटकारा है और यही जीवन का वास्तविक अंतिम लक्ष्य है। परन्तु अगर किसी भी व्यक्ति से उसका लक्ष्य पूछें तो उसका उत्तर कुछ और ही होता है। कोई डाक्टर बनना चाहता है तो कोई अभियंता, कोई वैज्ञानिक तो कोई साहित्यकार, कोई न्यायाधीश तो कोई वकील, कोई शिक्षक तो कोई कलाकार, कोई साहित्यकार, कोई राजनेता तो कोई समाजसेवक, कोई पेशा प्राप्त करना चाहता है तो कोई व्यवसाय की शुरुआत आदि आदि। अपने अपने लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपने मन में एक खाका तैयार करता है और खाका या योजना को अमलीजामा पहनाने हेतु प्रबल इच्छा-शक्ति, अथक परिश्रम, अपूर्व साहस एवं शक्ति। पथविशेष पर सफल व्यक्ति की जीवनी आदि का सहयोग ले, आगे बढ़ जाता है। अपने क्षेत्र-विशेष में सफलता भी प्राप्त करता है परंतु उसकी रुग्ण-स्पर्धा की भावना सफलता प्राप्ति के पश्चात् भी उसे खुशियाली नहीं प्रदान कर पाती। वह अपनी सफलता की तुलना अन्य सफल व्यक्तियों से करना प्रारंभ करता है और अपने को पीछे मान निराशा का शिकार बन जाता है क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि उसकी सफलता ही सर्वोच्च सफलता हो। स्वस्थ स्पर्धा उसे सर्वोच्च शिखर तक पहुंचा सकती है परंतु ईर्ष्या एवं द्वेष तथा नैराश्य-भावना का शिकार वह व्यक्ति हाथ मलते रहने के लिए विवश हो जाता है। फिर उसकी प्राप्त सफलता उसके किसी काम की नहीं रह जाती। सबसे बड़ी भूल तो यह होती है कि वह अपने लक्ष्य को अंतिम लक्ष्य मान लेता है जबकि उपरोक्त सारे लक्ष्य मध्यवर्ती लक्ष्य हैं जिसकी परिधि जीवन-यापन तक सीमित है। वह अपने अंतिम लक्ष्य मोक्ष को भूलकर इन्हीं मध्यवर्ती लक्ष्यों के मकड़जाल में फंसकर अपने को सांसारिक बंधनों, मोह-माया, अज्ञानता आदि में मजबूती से अपने ही हाथों जकड़ लेता है। परिणामस्वरूप वैसे व्यक्तियों के जीवन का अंत पश्चात्ताप के साथ होता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या इन मध्यवर्ती लक्ष्यों का कोई मोल नहीं? क्या इसे नजरअंदाज कर अंतिम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है? क्या इन सांसारिक बंधनों माया, मोह, अज्ञानता से निवृत्ति का कोई रास्ता है? प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य इन्हीं चंद प्रश्नों पर केंद्रित है।

अंतिम लक्ष्य मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होने के पूर्व हमें अपनी दुर्बलताओं की पहचान करनी होगी, तत्पश्चात् शनैः शनै. उन कमजोरियों को

अपने से दूर कर ही हम आगे बढने की बात सोच सकते हैं। इस संदर्भ में महात्मा बुद्ध ने कहा है- जीवन में हजारों लड़ाइयां जीतने से अच्छा है कि स्वयं पर विजय प्राप्त की जाए। फिर जीत हमेशा तुम्हारी ही होगी। इसे तुमसे कोई भी कभी भी नहीं छीन सकेगा। भगवान् महावीर ने भी कहा है- स्वयं से लड़ो, बाहरी दुश्मन से क्या लड़ना? वह जो स्वयं पर विजय कर लेगा उसे आनंद की प्राप्ति होगी। स्वयं पर विजय प्राप्त करना या स्वयं से लड़ने का अभिप्राय अपनी दुर्बलताओं से लड़ने और उसे दूर करने का प्रयास करना है। मैं और मेरा, तू और तेरा अर्थात् यह मेरा है वह तेरा है कि भावना ही माया-मोह है। संस्कृत में एक श्लोक है-

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

अर्थात् यह अपना है, वह पराया है कि भावना तुच्छ बुद्धि वाले लोगों की है जो व्यक्ति उदार होता है उसके लिए तो संसार ही कुटुंब के समान है। आज का आदमी अपनी इंद्रियों का गुलाम है। उसकी पांच ज्ञानेंद्रियां और पांच कर्मेद्रियां तथा मन उसका शासक है। व्यक्ति जब किसी सुंदर दृश्य को देखता है तो खुशियाली महसूस करता है और कुरूप दृश्य को देख दुखी हो जाता है, सुगंध को पा खुश और दुर्गंध से दुखी, मृदु स्वर से प्रसन्न और कटु स्वर से अप्रसन्न, सुस्वादु भोजन को पा तृप्त और अस्वादिष्ट भोजन से क्षुब्ध, कोमल स्पर्श से खुश और इसके विपरीत के स्पर्श से दुखी। ये सारे विषय ज्ञानेंद्रियों से संबद्ध हैं जिसमें राग और द्वेष हैं। ये दोनों ही अस्थाई हैं फिर इससे लगाव कैसा? कुछ की चाहत ही राग है और कुछ से नफरत ये प्रतिक्रियाएं हैं और इन्हीं प्रतिक्रियाओं का परिणाम सुख या दुख है। सुख एवं दुख के दोनों तीरों के बीच मनुष्य का जीवन गतिशील होता है। दूसरी ओर मनुष्य की पांच कर्मेन्द्रियों द्वारा संपादित कार्य के प्रति अभिव्यक्त प्रतिक्रिया भी उपरोक्त की भांति ही सुख-दुख को जन्म देती है। इन कर्मेन्द्रियों का सदुपयोग सुखी बनाता है तो दुरुपयोग दुख का कारण बनता है। इन ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की दुर्बलताओं को पहचानना आवश्यक है क्योंकि जब तक अपनी दुर्बलताओं से परिचित नहीं होते तब तक इसे दूर करने की कोशिश कैसे कर सकते हैं ? मन भी अत्यंत चंचल है। वह किसी भी विषय पर स्थिर नहीं रहता और मनुष्य को पेड़ की इस डाली से उस डाली झुलाते हुए शिखर तक नहीं पहुंचने देता। व्यक्ति का स्वभाव भी कुछ ऐसा ही है कि ऊंची डाली पर आसीन हो अपने लक्ष्य की सिद्धि मान लेता है जबकि शिखर प्रतीक्षा करती रहती है। इस संदर्भ में आदिगुरु शंकराचार्य का कथन अत्यंत प्रासंगिक है- मोह एक सपने की तरह ही है। यह तब तक ही सच लगता है जब तक कि हम अज्ञान की नींद में सो रहे होते हैं। जब अज्ञान दूर होता है तो मोह भी खत्म हो जाता है। एवं जब मन में सच जानने की जिज्ञासा पनप जाती है तब दुनिया-भर की सभी चीजें अर्थहीन हो जाती हैं।

इस संदर्भ में रामचरितमानस का उद्धरण

उपयुक्त है। चौदह वर्षों के वनवास के क्रम में राम, सीता, लक्ष्मण पंचवटी में ठहरे हुए थे। एक दिन उपयुक्त समय जान श्री लक्ष्मण जी ने श्री राम से ज्ञान, वैराग्य और माया का वर्णन करने तथा उन उपायों को बताने के लिए आग्रह किया जिससे जीवन का शोक, मोह तथा भ्रम नष्ट हो जाए। श्रीराम ने बड़े ही धैर्यपूर्वक श्री लक्ष्मण की ज्ञान-पिपासा को बुझाने का प्रयास किया। श्री लक्ष्मण के प्रश्न पूछने एवं श्रीराम जी द्वारा बताए उपायों को गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी कृति रामचरितमानस के अरण्यकांड में बड़े ही सुंदर ढंग से, न केवल श्री लक्ष्मण बल्कि जनकल्याण हेतु जन-सामान्य के लिए भी चित्रित किया है-

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा।
सब तजि करौं चरन रज सेवा।।
कहहु ग्यान बिलांग अरु माया।
कहहु हो भगति करहु जेहि दाया।।

(हे देव! मुझे समझा कर वही कहिए जिससे सब छोड़कर मैं आपकी चरणरज की ही सेवा करूं। ज्ञान, वैराग्य और माया का वर्णन कीजिए और उस भक्ति को कहिए जिसके कारण आप दया करते हैं।) दोहा-

ई श्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह हरदम जाइ।।

(हे प्रभु! ईश्वर और जीव का भेद भी सब समझाकर कहिए, जिससे आपके चरणों में मेरी प्रीति हो और शोक, मोह तथा भ्रम नष्ट हो जाए।)

थोरेहि महं सब कहउ बुझाई।
सुनहु तात मति मन चित्रण लाई।।
मैं अरु मोल तोल तै माया।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।।

(श्रीराम ने कहा- हे तात! मैं थोड़े ही में सब समझा कर कहे देता हूं। तुम मन, चित्त और बुद्धि लगाकर सुनो। मैं और मेरा, तू और तेरा, यही माया है जिसने समस्त जीवों को वश में कर रखा है।)

गो गोचर जहां लगि मन जाइ।
सो सब माया जानेहु भाई।।
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
विद्या अपर अविद्या दोऊ।।

(इंद्रियों के विषयों को और जहां तक मन जाता है, हे भाई! उस सबको माया जानना। उसके भी एक विद्या और दूसरी अविद्या इन दोनों भेदों को तुम सुनो।)

एक दुष्ट अतिसम दुखरूपा।
जा बस जीव परा भवकूपा।।
एक रचइ जग गुन बस जाके।
प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताकें।।

(एक (अविद्या) दुष्ट (दोषयुक्त) है और अत्यंत दुखरूप है जिसके वश होकर जीव संसार रूपी कुएं में पड़ा हुआ है और एक (विद्या) जिसके वश में गुण है और जो जगत् की रचना करती है, वह प्रभु से ही प्रेरित होती है, उसमें अपना बल कुछ भी नहीं है।)

ग्यान मान जहं एकउ नाहीं।
देख ब्रहम समान सब माहीं।।
कहिअ तात सो परम बिरागी।
तृन सम सिद्धि छीनि गुन त्यागी।।

(ज्ञान वह है जहां मान आदि एक भी दोष नहीं है और जो सबमें समान रूप से ब्रह्म को देखता है। हे तात! उसी को परम वैराग्यवान् कहना चाहिए जो सारी सिद्धियों को और तीनों गुणों को तिनके के समान त्याग चुका हो।)

माया ईस न आपु कहुं जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सील।।

(जो माया को, ईश्वर को और अपने स्वरूप को नहीं जानता उसे जीव कहना चाहिए। जो (कर्मानुसार) बंधन और मोक्ष देने वाला, सबसे परे और माया का प्रेरक है वह ईश्वर है।)

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना।।
जातें बेगि द्रवऊं मैं भाई।
सो मम भगति भगत सुखदाई।।

(धर्म के आचरण से वैराग्य और योग से ज्ञान होता है तथा ज्ञान मोक्ष का देने वाला है- ऐसा वेदों ने वर्णन किया है और हे भाई! जिससे मैं शीघ्र ही प्रसन्न होता हूं वह मेरी भक्ति है जो भक्तों को सुख देने वाली है।)

आज के इस भौतिकवादी युग में मानव धर्म-विमुख (कर्तव्यच्युत) हो, अज्ञानता के अंधकार में गोते लगाने को विवश है। किसी भी क्षेत्र में सीमित सफलता को प्राप्त कर अभिमानी बन गया है, अपने हितहेतु दूसरे के अहित करने में तनिक भी संकोच नहीं, तभी तो भाई भाई के रक्त का प्यासा बन गया है, पारिवारिक एवं सामाजिक संबंधों को ताक पर रख दिया है, क्षमा, दया, तप, त्याग, सहयोग, सहिष्णुता, सत्य, अहिंसा जैसे मानवीय मूल्यों का लोप-सा हो गया है, न तो गुरु और न ही अपने अग्रजों के प्रति आदर, सम्मान एवं सेवा का भाव शेष रह गया है, न तो अंत:करण की स्थिरता शेष है और न ही वाणी की मधुरता, मन एवं इंद्रियां नियंत्रणहीन हो स्वच्छंद विचरण कर रही हैं, सम्पूर्ण भोगों एवं पुत्र, पत्नी, घर और धन आदि आसक्तियों में आकंठ डूब चुका है, ममत्व से दूर एवं विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय का अनुगामी बन गया है।

उपरोक्त वर्णित मोह, माया, शोक एवं अज्ञानता के विभिन्न विषयों से उबारने हेतु श्री कृष्ण द्वारा श्री अर्जुन को दिए गए ज्ञान संबंधी उपदेश काफी प्रशंसनीय एवं ग्राह्य हैं। जिसका अनुसरण कर व्यक्ति अपने आप को इस सांसारिक बंधनों के दलदल से अपने को उबार सकाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय के सातवें से ग्यारवें श्लोक में श्री कृष्ण ने ज्ञान को समझाया है-

श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दंभाचरण का अभाव, किसी भी प्राणी को किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदि की सरलता, श्रद्धा भक्तिसहित गुरु की सेवा, बाहर भीतर की शुद्धि (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहार से द्रव्य की और उसके अन्न से आहार की तथा यथायोग्य बर्ताव से आचरणों की और जल मृतिकादि से शरीर की शुद्धि को बाहर की शुद्धि कहते हैं तथा राग, द्वेष और कपट आदि विकारों का नाश होकर अंत:करण का स्वच्छ हो जाना

भीतर की शुद्धि कही जाती है।) अंत:करण की स्थिरता और मन इंद्रियों सहित शरीर का निग्रह।।७।।

इस लोक और परलोक के संपूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दु:ख और दोषों का बार-बार विचार करना।।८।।

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना।।९।।

मुझ परमेश्वर में अनन्य योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति (केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके, श्रद्धा और भाव के सहित परम प्रेम से भगवान् का निरंतर चिंतन करना अव्यभिचारिणी भक्ति है) तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वाभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना।।१०।।

अध्यात्म ज्ञान में (जिस ज्ञान के द्वारा आत्मवस्तु और अनात्मवस्तु जानी जाए उस ज्ञान का नाम अध्यात्मज्ञान है) नित्यस्थिति और तत्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना-यह सब ज्ञान है-ऐसा कहा है।।११।।

अपने अंतिम लक्ष्य मोक्ष को ध्यान में रखते हुए मध्यमवर्ती लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास आवश्यक ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य भी है। योगवाशिष्ठ के अनुसार-सुनो ज्ञान सर्वस्व कहता है, सुनकर अवधारण करो, भोगेच्छामात्र बंध है और उसका त्याग मोक्ष। जगत्गुरु शंकराचार्य ने भी कहा है- मोक्ष क्या है? अविद्या की निवृत्ति। अर्थात् जब व्यक्ति अज्ञान के अंधेरे से बाहर निकल ज्ञान के प्रकाश की ओर बढ़ जाता है तो उसे दिन-प्रति-दिन, क्षण-प्रति-क्षण एक विशेष आनंद की प्राप्ति होती है और उसका प्राप्त अहर्निश आनंद उसे चरमानंद की ओर गतिशील बना देता है। महात्मा गांधी का कथन है- 'जो बात मुझे करनी है, वह तो है आत्मदर्शन, ईश्वर का साक्षात्कार, मोक्ष। मेरे जीवन की प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टि से होती है। मैं जो कुछ भी लिखता हूं, वह भी इसी उद्देश्य से और राजनीतिक क्षेत्र में जो घूमा सो भी इसी बात को सामने रखकर'। इसी संदर्भ में भास्कर भाष्य में लिखा है- 'अनवरत तथा अखंड आनंद के बोध की अवस्था मोक्ष है'। महर्षि अरविंद घोष के अनुसार-'ज्ञान, भक्ति और कर्म के मिलने से आत्मा परमात्मपद प्राप्त करता है'। भगवान् महावीर के कथनानुसार-'अज्ञानी कर्म का प्रभाव खत्म करने के लिए लाखों जन्म लेता है जबकि आध्यात्मिक ज्ञान रखने और अनुशासन में रहने वाला व्यक्ति उसे एक क्षण में खत्म कर देता है'। यहां रामकृष्ण परमहंस की भी उक्ति प्रासंगिक है- 'जिस व्यक्ति ने आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है उस पर कामवासना और लालच का कोई प्रभाव नहीं पड़ता'। अपने दूसरे विचार में उन्होंने कहा है- 'भगवान् हर कण में है और भगवान् का स्वरूप इंसानों में आसानी से देखा जा सकता है इसलिए इंसान की सेवा करना भी भगवान् की सेवा है'। सारांशत: भोगेच्छा का त्याग, अविद्या

की निवृत्ति, आत्मदर्शन, ईश्वर का साक्षात्कार, अनवरत तथा अखंड आनंद का बोध, ज्ञान, भक्ति और कर्म का मिलन, आध्यात्मिक ज्ञान, अनुशासन तथा इंसान की सेवा को मोक्ष कहा गया है। संस्कृत का यह वाक्यांश भी द्रष्टव्य है- **सा विद्या या विमुक्तये**।

स्वामी विवेकानंद ने अपनी पुस्तक 'मन की शक्तियां' के अंतिम पृष्ठ पर अंकित लक्ष्य और उसकी प्राप्ति में लिखा है- समस्त मानव-जाति का, समस्त धर्मों का चरम लक्ष्य, एक ही है और वह है भगवान् से पुनर्मिलन अथवा दूसरे शब्दों में उस ईश्वरीय स्वरूप की प्राप्ति जो प्रत्येक मनुष्य का प्रकृत स्वभाव है। लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधन-इन दोनों को मिलाकर योग कहा जाता है अर्थात् अपने को उस परमात्मा से जोड़ना जो हमारा प्रकृत स्वरूप है। इस प्रकार के योग अथवा मिलन के साधन कई हैं पर उनमें मुख्य हैं कर्म-योग, भक्ति-योग, राजयोग और ज्ञानयोग।

१. कर्मयोग- इसके अनुसार मनुष्य अपने कर्म और कर्तव्य के द्वारा अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करता है।

२. भक्तियोग- इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति सगुण ईश्वर के प्रति भक्ति और प्रेम के द्वारा होती है।

३. राजयोग- इसके अनुसार मनुष्य अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति मन:संयम के द्वारा करता है।

४. ज्ञानयोग- इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति ज्ञान के द्वारा होती है।

ये सब एक ही केंद्र -भगवान्- की ओर ले जाने वाले विभिन्न मार्ग हैं।

सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी मानव का अंतिक लक्ष्य भी सर्वोत्तम होना चाहिए और वह सर्वोत्तम व सर्वोच्च उद्देश्य मोक्ष है। सृष्टि में मानव ही मोक्ष का अधिकारी है। जन्म-मरण के चक्र से निकले या नहीं परंतु अनवरत एवं अखंड आनंद का बोध अहर्निश इस जीवन में करना ही तो मोक्ष है। हमारा जीवन कमल के समान होना चाहिए। जिस प्रकार कमल का उदय कीचड़ में होता है, विकास जल में होता है परंतु जल का स्पर्श उस पर दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार हमें अपने जीवन की कठिनाइयों को कीचड़ समान समझना चाहिए और अपने संतुलित कर्तव्यों का निर्वहन करते हुए अपने को निर्लिप्त रखना चाहिए। सांसारिक नश्वरता का एहसास हमें सचेत करने के लिए पर्याप्त है। जीवन यापनहेतु अकूत भौतिक संसाधनों की आवययकता नहीं जबकि आज मनुष्य संसाधनों को अधिक से अधिक संकलित करने के प्रयास में अपने बहुमूल्य समय का दुरुपयोग करता है। भौतिक समृद्धि व्यक्ति की प्यास को बुझाने की बजाय और अधिक तेज कर देती है। आदमी यह भूल गया है कि न तो वह सबसे सुन्दर एवं आलीशान महल बना सकता, न ही सबसे सुन्दर यातायात के साधन का भोक्ता बन सकता, न तो वह संसार के सर्वोच्च पद को प्राप्त कर सकता न ही वह सबसे धनी हो सकता, तथापि इसी के इर्द-गिर्द वह अपनी जीवन-लीला की समाप्ति कर लेता है और खाली हाथ इस

सांसारिक जीवन से विदा हो जाता है।

जब व्यक्ति अपने अंतिम उद्देश्य को ध्यान में केंद्रित एवं अवस्थित कर परिवार, समाज एवं राष्ट्र तथा विश्व के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वहन संतुलित एवं सफल रूप से करने का प्रयास करता है तो इसके कदम विघ्न-बाधाओं से विचलित नहीं होते। वह अपने कर्तव्यों की पवित्रता को ही अपना धर्म समझता है। उसे धर्मानुष्ठान की न तो फुर्सत होती है और न ही उसकी आवश्यकता। वह अपने कर्म को निःस्वार्थभाव से संपादित करते हुए एक अद्भुत आनंद की अनुभूति करता है। इसीलिए कर्म को धर्म से श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि धर्म करके ईश्वर से मांगना पड़ता है जबकि कर्म करने से ईश्वर को खुद ही देना पड़ता है। ऐसा व्यक्ति सदैव सचेत होता है। न तो उसे भूत की प्रिय अप्रिय घटनाएं और न ही भविष्य की आकांक्षाएं उसे प्रभावित कर पाती हैं। वह पूर्णतः अपना समय वर्तमान में आनंदपूर्वक व्यतीत करता हुआ सदैव ही आनंद का अधिकारी बन जाता है। वह प्रसन्नता के पीछे नहीं बल्कि प्रसन्नता ही उसकी अनुगामी होती है। वह जानता है कि समय और ज्वार किसी की प्रतीक्षा नहीं करता।

ऐसी बात नहीं की अंतिम लक्ष्य के आकांक्षी व्यक्ति के सामने परिस्थितियां नहीं आती, अवश्य आती हैं परन्तु हर परिस्थिति में वह अपने को तटस्थ रखता है। न तो सुखद दृश्य और न ही दुखद परिस्थिति के प्रति वह प्रतिक्रिया को उत्पन्न होने देता है। वह दोनों ही स्थितियों को अस्थाई मानता है, वह साक्षात्कार मात्र करता है परन्तु उसकी तटस्थता उसे विचलित नहीं होने देती। वह पूर्णतः समभाव में रह जीवन की विभिन्न घटनाओं का साक्षी मात्र बनता है। सेवा एवं त्याग की भावना को वह भली-भांति समझता है। वह दूसरों की सेवा हेतु अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग करता है। उसका जीवन प्रकृतिगत होता है क्योंकि सूरज, चांद, तारे, पेड़, पौधे, पर्वत-पहाड़, वन उववन, पशु-पक्षी के निःस्वार्थ सेवा की सूझबूझ उसे निरंतर प्रेरित करते हैं। उसे शाश्वत वाक्यांशों जैसे अहिंसा परमोधर्मः, सत्यमेव जयते, संतोषः परमं सुखम्, त्यक्तेन भुजीथा, वसुधैव कुटुंबकम्, परोपकारः पुण्याय, सा विद्या या विमुक्तये, अहर्निश सेवामहे, मातृवत् परदारेषु, बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय आदि का संबल होता है और सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, दया, तप, त्याग, तपस्या, सहयोग, सहिष्णुता करुणा जैसे मानवीय मूल्य उसके पथ-प्रदर्शक होते हैं।

मोक्ष के पथ पर अग्रसर व्यक्ति मध्यवर्ती लक्ष्य की अवहेलना नहीं करता परंतु उससे पूर्णतः लिप्त भी नहीं होता। अपने कर्तव्यों के निर्वहन में उसे सहायक मान उसे भी महत्व देता है और अपने अंतिम लक्ष्य को भी विस्मृत नहीं करता। वह समझता है कि संसार उसे नहीं बांध रहा बल्कि वह खुद ही संसार से बंध रहा है। अतः उस कड़ी को वह मजबूती प्रदान करने की बजाय अनवरत कमजोर करते रहता है। ऐन्द्रिक एवं भौतिक सुख वैसे व्यक्ति को आकर्षित नहीं

कर पाते। वह विभिन्न आसक्तियों से मुक्त होता है। एक ओर मन को नियंत्रण में रखने का प्रयास करता है जो दूसरी ओर उसकी वाणी में मिठास होती है। वह दूसरे के विचारों से न तो आहत होता है और न ही दूसरों को अपने विचारों से आहत करता है। वह एकान्त-प्रिय होता है और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय से अपने को दूर रखता है। नियमित रूप से वह अपना आत्म-निरीक्षण करता है तथा अपेक्षित परिमार्जन से अपने को और अधिक परिष्कृत करता है। आत्मविश्वास उसके कदम को विचलित होने से बचाता है। तन, मन एवं वाणी से वह अहिंसक होता है। दीन-दुखियों की सेवाहेतु उसमें अपना सर्वस्व त्याग की भावना होती है। वह अपने प्रियजनों के प्रति ही नहीं वरन् दुश्मनों के प्रति क्षमाशील होता है। वह अपनी परिधि के विस्तार का अनवरत प्रयास करता है। दृढ़ इच्छाशक्ति, साहस एवं अथक परिश्रम से वह अपने जीवन को सार्थक बनाने का प्रयास करता है। वह देना जानता है, लेना नहीं। अपनी एक-एक दुर्बलता को दूर करते हुए वह अपने अंतिक लक्ष्य की ओर तीव्र गति से निकल पड़ता है। उसके इस पुनीत कार्य में ईश्वरीय सहायता भी स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते रहती है। कहा भी गया है- **ईश्वर उसी की सहायता करते हैं जो अपनी सहायता आप करता है।**

- फलैट नं. 301, सिध्दी विनायक टावर, ऊर्जा नगर, दानापुर, पटना - 801503
मो. 8271047973

१. रामचरितमानस- गोस्वामी तुलसीदास २. श्रीमद्भगवद्गीता
३. इफेक्टिव लाइफ मैनेजमेंट- स्वामी अमर्त्यानंद
४. मन की शक्तियां- स्वामी विवेकानंद ५. थिंक लाइफ ए मौंक -जय शैट्टी
६. द मौंक हु सोल्ड हिज फेरारी - रोबिन एस शर्मा
७. द आर्ट आफ लिविंग विपासना एज टौट बाई एस एन गोयंका - विलियम हाँट
८. विश्व सूक्ति कोश - संपादक श्री शरण

विश्वज्योति वर्षः ७०, सं. ९
दिसम्बर ,२०२१

सांख्यदर्शन में दुखत्रय एवं मोक्ष/एक विश्लेषण

- डॉ. बलजीत कौर

२४ तत्त्वों से युक्त सांख्य भारत का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्राथमिक दर्शन है। ऐसी मान्यता है कि संसार में जो कुछ भी ज्ञान है वह सब सांख्य से ही प्राप्त है। गीता सांख्य का मूर्त्त रूप ही है। यह तीन प्रकार के दुःखों को मानता है और इन तीन आधिभौतिक आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दुःखों से आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक (अनिवार्य) निवृत्ति करना इसका प्रधान उद्देश्य है। प्रकृति पुरुष में बन्धन अन्योन्याश्रयापत्ति के कारण ही है। इसमें पुरुष चेतन तथा प्रकृति जड़ है। जब विवेक से यह भ्रान्ति नष्ट हो जाती है तो बन्धन समाप्त हो जाता है, यही मुक्ति है।

भारतीय दर्शन का परम प्रयोजन पुरुषार्थ को सम्पन्न करना है। मोक्ष, निःश्रेयस, निर्वाण ही मानवजीवन का चरम लक्ष्य है। इन्हीं की सिद्धि प्राप्ति के लिये भारतीय दर्शनों की प्रवृत्ति होती है तथा इसी प्रयोजन के संपादन में उनका दर्शनत्व भी चरितार्थ होता है। संसारी जीव नाना प्रकार के क्लेशों से पीड़ित हैं। दर्शन ही दुःखनिवृत्ति के मार्ग को बतलाता है। अन्य दर्शनों की तरह सांख्यदर्शन का भी प्रधान प्रयोजन दुःख की सार्वकालिक निवृत्ति है। दुःख के निराकरणार्थ ही इस शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, इसका स्पष्ट ज्ञान प्रथम सांख्यकारिका से ही हो जाता है-

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्।।

दुःख निवृत्ति की प्रतिज्ञा के साथ यह दर्शन प्रारम्भ होता है और इसके निवारण के मार्ग को बतलाता है। इस प्रकार दुःख, दुखहेतु मोक्ष-मोक्षोपाय रूप चतुर्व्यूह का अच्छी तरह प्रतिपादन सांख्यदर्शन करता है।

सांख्यदर्शन इस बात को मानता है कि इस संसार में दुःख है और मनुष्य उससे पीड़ित भी है। आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक रूप से इन दुःखों का त्रिविध वर्गीकरण किया गया है। शारीरिक एवं मानसिक भेद से आध्यात्मिक दुःख द्विविध है-

आत्मनि देहे मनसि वेति अध्यात्मम्।
तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शरीरं मानसं च।।

वात-पित्त-कफ रूप तीन दोषों के वैषम्य से उत्पन्न शीत, ताप, ज्वर आदि दुःख शारीरिक हैं तथा काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या आदि से उत्पन्न होने वाले दुःख मानसिक होते हैं किन्तु क्योंकि दुःख के कारणों को आधार बनाकर वर्गीकरण किया गया है, इसीलिये वही दुःख मानसिक होते हैं जो मानसिक कारणों से होते हैं।

अन्य कारणों से होने वाले दु:ख स्वोत्पादक कारणों के आधार पर अन्य नामों से कहे जाते हैं। मन के भीतर प्रयोग किये जाने से उपशमित होने वाले दु:खों को आन्तरिक या आध्यात्मिक दु:ख कहते हैं। आन्तरिक उपायों द्वारा निवर्तनीय होने के कारण ही इन दु:खों की संज्ञा आध्यात्मिक है- **सर्वं चैतदन्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दु:खम्।**

बाहरी उपायों से दूर किये जाने वाले दु:ख दो प्रकार के हैं- आधिभौतिक एवं आधिदैविक। मनुष्य-पशु-पक्षी-सर्प इत्यादि विभिन्न भूतों या प्राणियों एवं वृक्ष-पर्वत इत्यादि प्राकृतिक पदार्थो के निमित्त प्राप्त दु:ख आधिभौतिक हैं। देव-यज्ञ-राक्षस-भूत-प्रेत एवं ग्रह आदि की प्रतिकूलता से उत्पन्न दु:ख आधिदैविक हैं।

यद्यपि सभी विषय प्रकृति के विकार होने के कारण उसी से संबद्ध हैं। पुरुष तो स्वरूपत: निर्विषय है। मन आदि इन्द्रियों द्वारा बुद्धि विषयों को ग्रहण करती है और सुखदुखमोहात्मक विषयों से उपरञ्जित हो जाती है। बुद्धि में संक्रमित पुरुष इन सभी विषयों को अपने में उपचरित करके अभिमानपूर्वक उनका उपभोग करता है जिसके फलस्वरूप सुख-दु:ख से असंपृक्त होने पर भी सुखी-दु:खी मोहयुक्त होता है। यद्यपि इस प्रकार मन के द्वारा अनुभव किये जाने के कारण सभी दु:ख मानसिक ही हैं, फिर भी जिसमें केवल मन की अपेक्षा हो, वह दु:ख मानसिक तथा शरीर आदि अन्य निमित्तों के कारण शेष दु:ख शारीरिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक हैं। इस प्रकार इन दु:खों का त्रिविध विभाजन किया गया है।

संसार के समस्त पदार्थ सत्त्व, रजस्-तमो-रूपा प्रकृति के विकार होने के कारण सुख-दु:ख मोह मिश्रित हैं। इसलिये केवल सुख ही की प्राप्ति कभी सम्भव है ही नहीं। इसीलिए विवेकी मनुष्य के लिये जगत् के सभी पदार्थ दु:खरूप ही हैं। यह दु:ख रजो-गुण का परिणाम हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के नित्य होने के कारण यह दु:ख भी नित्य है। अविवेक, अज्ञान ही पुरुष के बंधन में कारण है और इस अविद्या के कारण जब तक द्रष्टा-दृश्य का संयोग बना रहता है, तब तक पुरुष को दु:ख भोगना ही पड़ता है।

सांख्य के अनुसार त्रिविध दु:खों की आत्यन्तिक ऐकान्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। प्रकृति के साथ अपने सम्बन्ध को समाप्त कर पुरुष का अपने ही चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही मोक्ष है-

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति

(सं. कारिका-६८)

प्रारब्ध कार्मो के फल के समाप्त होने पर तत्त्वज्ञानी पुरुष के दोनों प्रकार के शरीर (सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर) वियुक्त होकर विनष्ट हो जाते हैं। प्रकृति उस पुरुष के भोग और विवेक-रूप प्रयोजनों को सिद्ध कर चुकती है इसलिए उसे दूसरा शरीर नहीं देती। बल्कि उससे

पूर्णरूपेण निवृत्त हो जाती है फलस्वरूप अब पुरुष को प्रकृति का दर्शन भी नहीं होता क्योंकि प्रकृति के निवृत्त होने से तज्जन्य बुद्धि के भी न रहने से पुरुष का वह बुद्धिजन्य आगन्तुक ज्ञान भी समाप्त हो जाता है और जिसके कारण वह ज्ञाता बना हुआ था, जिसके द्वारा वह प्रकृति का दर्शन करता था। इस प्रकार प्रकृति की निवृत्ति होने पर पुरुष ऐसे कैवल्य अथवा दु:खत्रय विनाश को प्राप्त करता है जो ऐकान्तिक और आत्यन्तिक है। वह मोक्ष ऐकान्तिक इसीलिए है कि यह तत्त्वज्ञान से अनिवार्यत: होता है और आत्यन्तिक इसलिए है कि यह एकबार होकर फिर समाप्त या विनष्ट नहीं होता अपितु सदा बना रहता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष सदा के लिए मुक्त हो जाता है फिर वह कभी संसारचक्र में नहीं आता।

दु:ख के प्रहार से उद्विग्न होने से उसके विषय में जिज्ञासा होती है। अत: इनके निवारण का उपाय सांख्यदर्शन उपस्थित करता है और इस उद्देश्य की सिद्धि में प्रयोग किये जाने वाले लौकिक एवं वैदिक उपायों की अनुपयोगिता को वह बतलाता है। इन दु:खों के परिहार के लिये बहुत से लौकिक उपाय विद्यमान हैं जो अत्यन्त सुकर एवं सुलभ हैं। योग्य वैद्यों द्वारा बतलाये गये रसायन, औषध सेवन, शल्यक्रिया इत्यादि शारीरिक दु:खों के दूर करने के अतिसरल उपाय हैं। इसी प्रकार इच्छा अनुसार पान, भोजन, विलेपन, वस्त्रालङ्कार इत्यादि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति तथा अप्रिय वस्तुओं का परिहार इत्यादि मानसिक दु:ख के शमन के सुकर लौकिक उपाय हैं। अत: दु:खनिवृत्ति में अत्यन्त सरल लौकिक उपायों के सुलभ होने पर इनकी ओर ही सब की प्रवृत्ति होगी। जैसे कहा भी गया है-

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नं चरेत्।।

(यदि आक के वृक्ष पर शहद मिल जाये तो फिर पर्वत पर क्यों जावे, अभीष्ट विषय की सिद्धि हो जाने पर कौन विद्वान् प्रयत्न करेगा)

सांख्यशास्त्र प्रतिपादित तत्त्वपुरुषन्यताख्यातिरूप तत्त्वज्ञान अनेक जन्मों के सतत अभ्यास एवं अविच्छिन्न साधना के द्वारा सिद्ध होने के कारण अतीव दुष्कर है। इसलिये इस पथ में किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। लौकिक उपायों के प्रयोग से दु:ख की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति संभव नहीं है, क्योंकि दु:ख की अनिवार्य रूप से निवृत्ति नहीं होती तथा उपशमित होने पर भी पुन: दु:ख उद्भूत हो जाते हैं। इसीलिए सुकर एवं सुलभ होने पर भी लौकिक उपायों के प्रयोग से दु:ख का निश्चित रूप से तथा सार्वकालिक रूप से समुच्छेद नहीं होता। अत: लौकिक उपाय ग्राह्य नहीं हैं।

इसी प्रकार दु:ख के निरास में आनुश्रविक उपायों की अनुपयोगिता को सांख्यदर्शन प्रमाणित करता है। यद्यपि '**अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**' '**अपाम सोम अमृता अभूम**' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से सिद्ध होता है कि वैदिक कर्मकलाप, यज्ञानुष्ठान स्वर्ग रूप उत्कृष्ट फल को प्रदान करने वाले हैं जो

दु:खाभाव तथा सुख विशेष रूप हैं।

यत्र दुखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलोषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्।।

तापत्रय के प्रतिकार में ये वैदिक उपाय भी सरल है तथा सांख्यप्रतिपादित विवेकज्ञान की सिद्धि की अपेक्षा अधिक सरल हैं। अत: दुष्कर, दु:साध्य सांख्यज्ञान की ओर किसी की प्रतृत्ति होगी ही नहीं। किन्तु तापत्रय के निराकरण में बतलाये गए यज्ञादि उपाय भी दु:ख-निरास में लौकिक उपायों के सादृश ही हैं। क्योंकि वे सभी उपाय अशुद्ध हैं एवं विनाशशील तथा विषयफल को उत्पन्न करने वाले हैं। हिंसा के कारण ही स्वर्ग के साधनभूत वैदिक उपाय अविशुद्ध हैं। आचार्य पञ्चशिख के अनुसार ज्योतिष्टोम इत्यादि से उत्पन्न धर्म नामक प्रधान फल के साथ पशुहिंसा से उत्पन्न अनर्थकारी अधर्म नामक अशुभ फल के साथ स्वल्प मिश्रण होता है तथा अतिअल्प प्रायश्चित्त द्वारा यह अधर्म निवर्तनीय होता है और यदि प्रमादवश प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया तो प्रधान कर्म के फलभोग के अवसर पर यह किंचिन्मात्र अधर्म भी अपना अशुभ फल प्रदान करता है। किंतु वह फल सह्य होता है- **स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः।**

वैदिक उपायों के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाला स्वर्गरूप फल क्षणिक होता है। क्योंकि जो जो कार्य होता है, वह अनित्य होता है यथा- घट, पट इत्यादि। इसी प्रकार वैदिक उपायों से प्राप्त होने वाले फल न्यूनाधिक्य दोष से युक्त होते हैं। ज्योतिष्टोम के सम्पादन से स्वर्गमात्र की सिद्धि होती है, किन्तु वाजपेययाग करने से स्वर्गाधिपति की प्राप्ति होती है और परपुरुष का उत्कर्ष हीन-सम्पदा वाले पुरुष को दु:खी बनाता ही है। इसीलिए अविशुद्धि क्षय-अतिशय रूप त्रिविध दोषों से युक्त होने के कारण वैदिक उपाय भी लौकिक उपायों के सदृश ही है और दु:खों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति में सर्वथा उपयुक्त नहीं है और मानवदु:खों की अनिवार्य रूप से तथा सार्वकालिक रूप से निवृत्ति चाहता है। अत: लौकिक एवं वैदिक उपायों के सुकर साथ ही सुलभ होने पर भी अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये मनुष्य की जिज्ञासा अतिदुष्कर होने पर भी सांख्यप्रतिपादित व्यक्त, अव्यक्त विज्ञान के विषय में होगी ही।

इसलिये सांख्यशास्त्र प्रतिपादित व्यक्त-अव्यक्त का विज्ञान ही दु:ख की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति में उत्कृष्टतम उपाय है। समस्त दु:खों का कारण अविद्या ही है। इसी कारण प्रकृति पुरुष का संयोग होता है और इसी अविवेक, अभेद प्रतीति के कारण ही बुद्धिगत समस्त विषयों का कर्त्ता एवं भोक्ता बनकर पुरुष सुखी-दु:खी होता है। अत: सांख्यशास्त्र द्वारा बतलाई गई विधि से व्यक्त के स्वरूप का ज्ञान उसके मूल कारण अव्यक्त प्रकृति का ज्ञान और इन दोनों से नितान्त पृथक् पुरुष के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान होता है। अविद्या से उत्पन्न प्रकृति पुरुष के संयोग की समाप्ति हो जाती है। पुरुष को

अपने यथार्थ, सत्य स्वरूप का ज्ञान हो जाता है कि मैं न तो क्रियावान् हूँ न कर्त्ता हूं और न तो मेरा भोक्तृत्व ही है। मैं नित्य शुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव वाला, अपरिणामी चेतन पुरुष हूँ। त्रिगुणात्मिका प्रकृति से सर्वथा भिन्न सुख-दु:ख-मोह रहित मैं पुरुष हूँ-

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।

संशय-विपर्यय राहित केवल ज्ञान की प्राप्ति होते ही व्यक्त-अव्यक्त के साथ पुरुष को ज्ञान हो जाता है और वह सदा के लिये मुक्त हो जाता है। दु:ख से उसे सार्वकालिक निवृत्ति मिल जाती है। वह अपने चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही पुरुष का भाव केवली कैवल्य है और इसी की सिद्धि मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ तथा सांख्यदर्शन का प्रधान प्रयोजन है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रमाण-मीमांसा, तत्त्वमीमांसा -सृष्टिप्रक्रिया, सरूपविरूप-परिणाम इत्यादि का निरूपण सांख्यदर्शन करता है और दु:ख-दु:ख हेतु मोक्ष-मोक्षोपाय रूप से चतुर्धा उसकी प्रवृत्ति होती है।

- के. एम. आर. डी. कालेज, मालेरकोटला।

१. सांख्यतत्त्वकौमुदीसंहिता
२. सांख्यतत्त्वकौमुदीसंहिता पृ. १
३. सांख्यतत्त्वकौमुदीसंहिता पृ. ९
४. सांख्यतत्त्वकौमुदीसंहिता पृ. १०
५. सांख्यतत्त्वकौमुदीसंहिता पृ. १४
६. सांख्यतत्त्वकौमुदीसंहिता पृ. १७
७. सांख्यकारिका - डा. रामकृष्ण आचार्य

संकल्प

- श्री बाबूलाल शर्मा प्रेम

छोड़ो घिसीपिटी बातें अब
आया नया जमाना-
जीवन है अनमोल तुम्हारा
इसे न व्यर्थ गँवाना
लिखना पढ़ना आगे बढ़ना,
लक्ष्य अगर है पाना,
चाहे जैसी मुश्किल आये,
तनिक नहीं घबड़ाना

हँसकर मीठे बोल बोलना
श्रम से मुँह न चुराना
अपने दीपक आप स्वयं बन,
तम को दूर भगाना,
आज अभी से प्रण करना है
करना नहीं बहाना,
सत्यं शिवं सुंदरम् पंथ ही
हमको है अपनाना

- इंद्रपुरी, पो. मानसनगर, लखनऊ-२३

PEER REVIEWED JOURNAL
ISSN 0505-7523

विश्वज्योति वर्षः ७०, सं. ९
दिसम्बर ,२०२१

उपनिषदों में सदाचार (नैतिक शिक्षा)

- डॉ. उमा रानी

वेद के अन्तिम भाग,, सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक भारतीय तत्त्वज्ञान एवं धर्म-सिद्धान्तों के मूलस्रोत उपनिषद् वस्तुतः आध्यात्मिक मानसरोवर हैं जिनके ज्ञान की विभिन्न सरितायें निकल कर पुण्यभूमि में मानवमात्र के ऐहिक तथा आमुष्मिक कल्याणार्थ प्रवाहित होती हैं। उपनिषद् यद्यपि ज्ञानकाण्ड हैं, जिसमें आध्यात्मिक जीवन का प्रतिपादन किया गया है, तथापि साधारण मानव को कैसे कर्म करने चाहिएं इस का भी उल्लेख इनमें उपलब्ध होता है। कठोपनिषद् का कथन है- दुष्कर्म सत्य से हमारे अलगाव का परिणाम है, यदि हम दुष्कर्मों को नहीं छोड़ते तो हमारी मुक्ति नहीं हो सकती।[१] उपनिषद् वैराग्य की भावना पर जोर देते हैं। वैराग्य आसक्ति का विरोधी है, भोग का नहीं। विरक्ति की भावना से भोग करो, पर त्यागपूर्वक यह ईशोपनिषद् का उपदेश है। त्याग की भावना का अर्थ सामाजिक कर्त्तव्यों की अवहेलना नहीं है। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार उपनिषदों में संसार को त्याग देने का आदेश कहीं नहीं है किन्तु उसकी पृथक् सत्ता मानने के स्वप्न को त्याग देने का आदेश है। उपनिषदों में प्राकृतिक जगत् एवं मानव के अन्दर स्थित ईश्वर को ग्रहण करने का आदेश है।[२] यद्यपि जीवन को अमृतमय बनाने की समस्या का समाधान उपनिषद् में सर्वत्र उपलब्ध होता है तथापि संसार में रहते हुए ही त्यागपूर्वक भोग की शिक्षा दी गई है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन व्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।[३]

सदाचार का वर्णन उपनिषदों में कई स्थानों पर किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में जीवन की एक यज्ञ से तुलना की गई है, जिसमें तपः, दान, साधुता अहिंसा और सत्यवादिता को ही मान्यता दी गई है।[४] तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मचारियों के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसे सत्य, सद्गुण, कल्याण, अभ्युदय, स्वाध्याय औद उपदेश की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इसी उपनिषद् में अनेक सद्गुणों का उपदेश प्राप्त होता है- धर्म का पालन करने, सत्य बोलने, तपः, संयम और शान्ति की साधना करने, अतिथि-सत्कार करने आदि का उपदेश भी मानव को दिया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी सदाचार का

१. कठोपनिषद् १.२.२-३
२. भारतीय दर्शन, पृ. १७९
३. ईशावास्योपनिषद्, १
४. छान्दोग्योपनिषद्, ३.१७

वर्णन मिलता है। सद्गुणों को प्रजापति तीन 'द' अक्षरों द्वारा देव मनुष्य व असुर को क्रमशः दमन, दान और दया का उपदेश देते हैं।[५] दम आत्म-निग्रह है हमें अपनी आवश्यकताएं घटानी चाहिएँ और सत्य के लिए कष्ट सहने को तैयार रहना चाहिए।[६] संयम चारित्रिक शुद्धता, एकान्त और मौन आत्म-निग्रह के उपाय हैं।

दान- उपहार आदि का आदेश करता है। निषेधात्मक रूप से यह लोभ से मुक्ति है और विध्यात्मक रूप से जरूरतमन्दों की सहायता। तैत्तिरीयोपनिषद् में बताया गया है कि दान किस प्रकार देना चाहिए।[७] दान श्रद्धा के साथ देना चाहिए, अश्रद्धा से नहीं, उदारता, विनम्रता, भय और सहानुभूति से देना चाहिए।

दया- सब के साथ शान्ति से रहने की चेष्टा करनी चाहिए, सभी तरह की क्रूरता और दुर्भावना को घृणित समझना चाहिए।[८] किसी से वैर न करके सभी को क्षमा कर देना चाहिए। सहनशीलता, देर तक कष्ट सहना, धैर्य-ये आत्मा के फल हैं।

मौन- यह आत्मा को ध्यान की ओर प्रेरित करता है। मौन के अनुशासन से हम जिह्वा से होने वाले अनाचारों-धर्मद्रोह, चुगली, चाटुकारिता आदि को रोक सकते हैं।

ब्रह्मचर्य- ब्रह्मचर्य के पालन से शरीर यौवन और सौन्दर्य से पूर्ण तथा मस्तिष्क तीक्ष्ण और सतर्क रहता है। पूर्ण शारीरिक छवि दिव्य की प्रतिभा और आकृति बन जाती है। सभी उपनिषदों में सत्याचरण का उल्लेख किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। यदि कोई अपराध किया हो और उस व्यक्ति ने वैसा करके सत्य बोला हो तो उसे समाज हेयदृष्टि से नहीं देखता। सत्यकाम जाबाल और उसकी माता जबाला का प्रसङ्ग इस विषय में समाज के लिए एक उदाहरण है। यह कथा बताती है कि किसी स्वैरिणी स्त्री का पुत्र भी सत्य बोलने के कारण ब्राह्मणपद और विद्याप्राप्ति का अधिकारी हो सकता है। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि सत्य की विजय होती है, असत्य की नहीं। **सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।**[९] प्रश्नोपनिषद् में ऋषि भारद्वाज का कहना है कि जो सत्यभाषण नहीं करता वह समूल नष्ट हो जाता है।[१०]

इस प्रकार लिखा जा सकता है कि उपनिषद् आचार-शास्त्र के उन सार्वभौम नियमों की माला प्रदान करते हैं, जिनकी किसी काल में उपेक्षा नहीं की जा सकती है। ये नैतिक-नियम भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं। इस संसार में निःस्वार्थ निष्ठावान् जीवन ही विवेकपूर्ण जीवन है, जो मानव अपने जीवन में निजी हितों को सामाजिक हितों के अधीन कर देता है, वह सज्जन एवं धर्मात्मा है, जो इसके विपरीत आचरण करता

---

५. बृहदारण्यकोपनिषद्, ५.२
६. वही, २३५. ४०-४२
७. तैत्तिरीयोपनिषद्, १.११.३
८. देवीभागवत
९. मुण्डकोपनिषद्, ३.१.६
१०. प्रश्नोपनिषद्, ६.१

है वह दुर्जन है। उपनिषदों में इस प्रकार के नैतिक चिन्तन का मार्ग सबके लिए खुला है, जो आत्मा के विस्तार की ओर ले जाता है। यदि मनुष्य पाप से दूर रहना चाहता है, तो उसे स्वार्थ से बचना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य स्वयं को एक अनन्य इकाई एवम् अपने भौतिक शरीर को सबसे पृथक् और अहम् मानता है, वे सभी भाव जो नैतिक दृष्टि से दोषपूर्ण हैं, इसी अहंभाव से उत्पन्न होते हैं। अत: मनुष्य को अपने जीवन एवम् आचरण में इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि सब वस्तुएँ ईश्वर में हैं और ईश्वरार्थ हैं, जो व्यक्ति इस तथ्य को समझ लेता है, वह अपने आचरण से परब्रह्म के विश्वव्यापी जीवन के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। नैतिक जीवन ईश्वरोन्मुख जीवन होता है। ऐसा जीवन मानवता के प्रति उत्कट प्रेम और श्रद्धा से ओतप्रोत होता है। उपनिषदों में निर्देश दिया गया है कि स्वार्थमय प्रयत्नों का त्याग करना चाहिए किन्तु सब हितों का नहीं। अहंभाव से पृथक् रह कर परब्रह्म के साथ संयुक्त होना ही उपनिषदों की नैतिक शिक्षा है।

– एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, बीटन (ऊना)

संस्कार

– श्री ओमप्रकाश बजाज

कहा जाता था कि बच्चे अच्छे संस्कार
अपने परिवार से ग्रहण करते हैं
वह सच्चाई तो आज भी कायम है
पर परिवारों की परिभाषा बदल गई है!
आज माईक्रो परिवारों का युग है
जिस में केवल पति पत्नि और बच्चा है
पति पत्नि भागते काम पर जाते हैं
थक हार कर देर से लौट पाते हैं
उन्हें अपनी होश नहीं रहती है
वे बच्चे को किसी तरह पालते हैं
संस्कार देने आदर्श प्रस्तुत करने की
बात ही उनके ध्यान में नहीं आती है
बच्चा बमुशकिल तीन साल का होता है
कि प्ले स्कूल में डाल दिया जाता है
फिर तो वह कोचिंग होमवर्क की
भागमभाग में चक्करघिन्नी बन जाता है
उसके बाद अच्छे संस्कार देने लेने का
ख्याब ख्याल ही कब किसको आता है

–पो.बा. 595, जी.पी.ओ. इंदौर (म.प्र.) 452001 मो. 9826496975

PEER REVIEWED JOURNAL
ISSN 0505-7523

विश्वज्योति वर्षः ७०, सं. ९
दिसम्बर ,२०२१

पुण्य-पाप तथा विपाकसूत्र

- डॉ. सुरभि महाराज

पुण्य-पाप-

प्रत्येक आत्मा कर्मविपाक के तारतम्य भाव से फल भोगता है। ऐसी विश्व में कोई आत्मा नहीं है जो एकान्त रूप से पुण्य या पाप से मुक्त हो, क्योंकि प्रत्येक जीव अष्टविध कर्मों से सम्बद्ध है। अतः एकान्त रूप से कोई भी आत्मा पुण्य या पाप से मुक्त नहीं है। पुण्य जीव के लिए सुपथ्य आहार के समान इष्ट है और पाप कुत्सित आहार के तुल्य अनिष्ट है। पुण्य लौकिक दृष्टि से उन्नति के शिखर पर ले जाता है, जबकि पाप अवनति के रसातल में पहुँचा देता है। पुण्य के समान पापानुबन्धी पाप और पुण्यानुबन्धी पाप के भेद से पाप भी दो प्रकार का होता है तथा अनन्त प्राणियों के आश्रित होने से वह अनन्त भेद वाला भी होता है। अतः अशुभत्व की दृष्टि से वह पाप एक ही प्रकार का है।[१] अतः पुण्य की तरह पाप भी एक स्वतन्त्र तत्व है।

पुण्य एवं पाप शब्दों की व्युत्पत्ति-

जो आत्मा को पवित्र एवं शुभ बनाता है, वह पुण्य कहलाता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है-

पुणाति शुभीकरोति,

पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मान-

मिति पुण्यं शुभकर्म,

सद्वेदादि द्विचत्वारिंशद्विधम्।।[२]

पुण्य का प्रतिपक्षी पाप कर्म है, जो आत्मा को मलिन करता है, अथवा आत्मा को दुर्गति में डालता है अथवा आत्मा के आनन्द-रस को सुखाता है या नष्ट करता है, उसे पाप कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है-

पाशयति गुण्डयत्यात्मानं पातयति चात्मन आनन्दरसं शोषयति क्षपयतीति पापम्।[३] इष्ट पदार्थो की प्राप्ति जिससे होती हो, वह कर्म पुण्य कहलाता है।[४] जैसे आरोग्य, सम्पत्ति, रूप, कीर्त्ति, सुकुटुम्ब-परिवार, दीर्घ आयुष्य आदि सुख के साधन जिन कर्मों के कारण उपलब्ध होते हैं। वे शुभ कर्म 'पुण्य' कहलाते हैं। दान आदि क्रियाओं से उपार्जित किया जाने वाला शुभ कर्म पुण्य है।[५]

अशुभ कर्म और उदय में आये हुए अशुभ कर्म पुद्गलों को पाप कहते हैं।[६] जो आत्मा को

१. स्था. सू. १.१.१२ (विवे.)
२. वही, १.१.११ (विवे.)
३. वही, १.१.१२ (विवे.)
४. भ.आ.-गा. ३८, पृ. १३४, पं.२०
५. स्या. वा. मं. - २७.३०२.१९
६. स.सि. ६.३.३२०.३ ; (त. श्रु. सा. वृ. ६.३)जै.द.स्व. और वि. - दे. मु. शा., पृ. १९३ टिप्पण सं. ४ क ; पंचा. वृ., अमृतचन्द्राचार्य १०८ - जै.द.स्व. और वि. - दे. मु. शा., पृ. १९३ टिप्पण सं. ४ क

शुभ से बचाता है, वह पाप है। जैसे असाता वेदनीयादि। अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति जिससे होती है, ऐसे कर्म को (भावों को) पाप कहते हैं।[७] अशुभ वेदादि के कारण जो अव्रतादि भाव हैं, उनको शास्त्र में पाप कहा गया है।[८]

मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया से आत्मप्रदेशों में कम्पन होता है। उससे कर्म-परमाणु आत्मा की ओर खिंचते हैं। क्रिया शुभ हो तो शुभ वर्गणा के कार्मण पुद्गल और अशुभ हो तो अशुभ वर्गणा के कार्मण पुद्गल आत्मा से चिपकते हैं। यहां चिपकने में हेतु लेश्या है।[९]

१. लेश्या- लेश्या शब्द लिश् धातु से बना है। लिश् का अर्थ है- चिपकना सम्बद्ध होना। अर्थात् जिसके द्वारा कर्म आत्मा के साथ चिपकते हैं या बन्धते हैं, उसे लेश्या कहते हैं। लेश्या आत्मा का शुभ या अशुभ परिणाम है। लेश्या छः प्रकार की होती है। १. कृष्ण लेश्या, २. नील लेश्या, ३. कापोत लेश्या, ४. तेजो लेश्या, ५. पद्म लेश्या, ६. शुक्ल लेश्या (गो. जी. का. गा. ४९३)

१. कृष्ण लेश्या- कृष्ण लेश्या में मनोवृत्ति सबसे नीच श्रेणी की होती है। कृष्ण लेश्या वाले जीव के विचार क्षुद्र, क्रूर, कठोर एवं निर्दयी होते हैं। ये भोग-विलासी व्यक्ति होते हैं। (गो.जी.का.गा. ५०९)।

२. नील लेश्या- यह मनोवृत्ति कृष्ण लेश्या की अपेक्षा कुछ ठीक है। इसमें आत्माएँ ईर्ष्यालु, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज एवं रसलोलुप होती हैं। (गो.जी.का.गा. ५१०-५११)।

३. कापोत लेश्या- कापोत लेश्या मनोवृत्ति भी दूषित है। जीव अपने दोषों को इसके कारण छुपाते हैं। कठोर वाणी बोलते हैं और निर्दयी होते हैं। (गो.जी.का.गा. ५१२-५१४)।

४. तेजो लेश्या- तेजो लेश्या मनोवृत्ति वाले पवित्र होते हैं। ये नम्र, विचारशील, दयालु एवं धर्म में रुचि रखने वाले होते हैं। अपनी सुख-सुविधाओं को कम महत्त्व देते हैं और दूसरों के प्रति अधिक उदारता रखते हैं। ये कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को जानते हैं। ये मृदुभाषी होते हैं। ये दूसरों का हित करने वाले होते हैं। वे दान देने में उदार रहते हैं। ये सभी तेजोलेश्या वाले जीव के लक्षण हैं। (गो.जी.का.गा. ५१२-५१४)

५. पद्म लेश्या- पद्म लेश्या वाले व्यक्तियों का जीवन कमल के समान दूसरों को सुगन्ध अर्थात् सुख देने वाला होता है। इनका मन शान्त, निश्चल और अशुभ विचारों को रोकने वाला होता है। ये व्यक्ति पाप से डरते हैं, मोह और शोक से दूर रहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय अधिकतर समाप्त एवं शान्त हो जाते हैं। ये नम्र भाषी, सुन्दर एवं इन्द्रियों के विजेता होते हैं। (गो.जी.का.गा. ५१६)।

६. शुक्ल लेश्या- यह लेश्या सबसे अधिक विशुद्ध होती है। मनोवृत्ति विशुद्ध होने के कारण शुक्ल लेश्या कहलाते हैं। ये अपने सुखों की प्रवाह नहीं करते। शरीर निर्वाह के लिए अल्पाहार लेते हैं। किसी को पीड़ा नहीं देते। आसक्ति रहित होने से सदैव समभाव में रहते हैं। राग-द्वेष रहित होकर

---

७. भा. आ. ३८.१३४.२१ ८. वृ.नय. चक्र.-गा.१६२ ९. नि. प्र. १२.१

वीतराग हो जाते हैं। (गो.जी.का.गा.५१७)।

आत्मा तीन स्थितियों में विद्यमान रहती है- शुभ, अशुभ और शुद्ध। राग, द्वेष और मोह के कारण कर्मबन्ध होता है। दान, पूजा आदि शुभ परिणाम हैं। ये दोनों (शुभ और अशुभ) पुण्य और पाप के कारण होते हैं। जिस समय जीव शुभ अथवा अशुभ रूप में परिणत हो रहा होता है, उस समय वह शुभ अथवा अशुभ हो जाता है। तथा जिस समय जीव शुद्ध रूप में परिणत हो रहा होता है, उस समय उसका शुद्ध रूप आविर्भूत होता है। शुभ होने पर जीव पुण्य कर्म से बन्ध करता है और अशुभ रूप से परिणत होता हुआ जीव पाप कर्मों से बन्ध करता है।[१०] जीव पाप कर्मों के उदय से नरक गति पाता है, और पुण्य कर्मों वेदनीय कर्म का सातवेदनीय भेद, नाम कर्म के शुभ नाम प्रकृतियां, उच्च गोत्र और देव आयु, मनुष्यायु तथा तिर्यंच आयु से देवता आदि बन जाता है। पुण्य-पाप दोनों के सम्मिश्रण से मनुष्य गति पाता है और इनके नाश से मोक्ष को प्राप्त करता है।[११] पुण्य सुख का पर्याय है और पाप दु:ख का पर्याय है। इसलिए पुण्य प्राय: सभी को इष्ट होता है। सम्यग्दृष्टि वाले पुण्य से मोक्ष मिलता है और मिथ्यादृष्टि वाले पुण्य से स्वर्ग का ऐश्वर्य मिलता है। इसलिए मुमुक्षुओं को शुद्धोपयोग वाली स्थिति ही प्रिय है, शुभोपयोग (शुभ कर्म) वाली स्थिति इष्ट नहीं।[१२] इसलिए जैन दर्शन के अनुसार कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ, उपादेय नहीं है। क्योंकि वे पुनर्जन्म में कारण बनते हैं। मोक्ष प्राप्त करने के लिए कर्मों का पूर्ण विनाश होना मुमुक्षु के लिए परमावश्यक है।

जगत् में मनुष्य दो प्रकार के मिलते हैं-एक सदाचार सम्पन्न और दूसरे उनसे विपरीत। सदाचार सम्पन्न व्यक्ति सुखी होते हैं और दु:खी भी होते हैं। तथा कदाचार सम्पन्न व्यक्ति भी इसी प्रकार सुखी भी मिलते हैं और दु:खी भी। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य की इस प्रकार की विचित्र स्थिति के होने में पुण्य-पाप की विचित्रता ही कारण है।[१३]

पुण्योपार्जन के हेतु- दीन-दु:खी पर करुणा करना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, गुणी जनों पर प्रमोद भावना रखना, परोपकार करना आदि अनेक प्रकार के साधनों से पुण्योपार्जन किया जाता है। शास्त्र में पुण्योपार्जन के नौ भेद बताये हैं, वे इस प्रकार है- १. अन्न पुण्य, २. पान पुण्य, ३. लयन पुण्य (आसन देना), ४. शयन (शैय्या) पुण्य, ५. वस्त्र पुण्य, ६. मन पुण्य, ७. वचन पुण्य, ८. काय पुण्य, ९. नमस्कार पुण्य[१४]। तत्पर्य है कि इन कर्मों के करने से पुण्य होता है।[१५]

पापोपार्जन के हेतु- पाप के कारण भी अनेक हैं, तथापि संक्षेप में पाप उपार्जन के अठारह कारण[१६] माने गये हैं। उन्हें पापस्थान भी कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- १. हिंसा, २. झूठ, ३. चोरी, ४. अब्रह्मचर्य, ५. परिग्रह, ६. क्रोध, ७. मान, ८. माया, ९. लोभ, १०. राग, ११. द्वेष, १२. कलह, १३. अभ्याख्यान (झूठा आरोप लगाना), १४.

---

१०. प्रवचनसार १.९; २-६८; ८८; ८९ ११. परमात्मप्रकाश २.६३ १२. प्रवचनसार, २.५३
१३. जै. दर्शन, न्या. वि. मु. पृ. १२०-१२१ १४. स्था. सू. ९.१६
१५. जै. द. स्व. और वि. पृ. १९३ १६. वही

पैशुन्य (चुगली), १५. परपरिवाद (लड़ाई-झगड़ा), १६. रति अरति (पाप में रुचि तथा अधर्म में अरुचि), १७. माया-मृषावाद (कपट सहित झूठ बोलना), १८. मिथ्या दर्शन[१७]

यद्यपि उपार्जन की साक्षेप दृष्टि से पुण्य नौ प्रकार का और पाप अठारह प्रकार का सम्पन्न होता है तथा प्राधान्येन इनके दो-दो भेद हैं। कुल मिलाकर चार भेद ही प्रसिद्ध हैं- १. पुण्यानुबन्धी पुण्य, २. पापानुबन्धी पुण्य, ३. पुण्यानुबन्धी पाप, ४. पापानुबन्धी पाप।

१. पुण्यानुबन्धी पुण्य- पूर्व जन्म के जिस पुण्य के उदय से सुख भोगते हुए धर्म में रुचि रहे, पुण्य कार्य करने पर उत्साह रहे और सदाचारपूर्वक जीवन व्यतीत किया जाये- ऐसे पुण्य को 'पुण्यानुबन्धी पुण्य' कहते हैं।[१८] क्योंकि ऐसा पुण्य वर्तमान जीवन में सुख देने के साथ ही साथ जीवन को शुभ अर्थात् पुण्यशाली बनाने में भी सहायक होता है। 'पुण्य का अनुबन्धी' अर्थात् परलोकसाधक पुण्यसाधना के साथ सम्बन्ध रखने वाला (भविष्य के अच्छे परलोक की पुण्य क्रिया में बाधक न होने वाला- अनुकूल रहने वाला) जो पुण्य (पुण्योदय) वह पुण्यानुबन्धी पुण्य है। जैसा कि विपाक सूत्र के निम्नलिखित प्रसंगों से स्पष्ट है-

धायमाता किन्हीं पुण्यकर्मों के बन्ध के कारण ही राजप्रसाद में आई थी। क्योंकि शुभ अथवा अशुभ कार्मण पुद्गलों की स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध के कारण ही व्यक्ति कम या अधिक समय तक तीव्र अथवा मन्द रूप में फल भोगता है। इस भव में भी धायमाता पुण्य का ही बन्ध कर रही है। जब रानी मृगादेवो ने हुण्डक रूप बच्चे को जन्म दिया तब उस बच्चे के रूप को देखकर रानी ने तुरन्त ही धायमाता को ऐसे हुण्डकरूप बच्चे को बाहर फैंकने के लिए आदेश दे दिया। लेकिन धायमाता ने बच्चे को बाहर गिराने के स्थान पर राजा को सूचित करना अच्छा समझा। धायमाता ने विजय नरेश को सारी स्थिति से अवगत कराते हुए रानी का आदेश सुना दिया। राजा ने धायमाता को ऐसा करने से मना कर दिया इस प्रकार धायमाता ने बच्चे की जान बचाकर पुण्य का ही बन्ध किया।[१९] विजय नरेश के किन्हीं शुभ कर्मों के कारण पूर्ण सुख-सुविधा मिली है। राजसत्ता का उन्हें अभिमान नहीं था। विजय नरेश बहुत ही धार्मिक व दयालु प्रकृति का था। राजा के धार्मिक होने की जितनी भी प्रशंसा की जाये उतनी ही कम है। दयालु प्रकृति के कारण ही जब धायमाता से रानी द्वारा हुण्डक रूप बालक को बाहर फैंकने का विचार पता लगता है, तो तुरन्त धायमाता को कहता है ऐसा नहीं करना। रानी के पास आकर उसे पूरी सान्त्वना देता है और समझाता है कि तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए बल्कि इस बालक का गुप्त रूप से पालन-पोषण करना चाहिए। इस प्रकार विजय नरेश ने बच्चे को जीवनदान देकर पुण्य का बन्ध किया। इसी कारण से ही वह चार और हृष्ट-पुष्ट बच्चों का पिता बना;[२०] मृगापुत्र के जीव ने अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण कई प्रकार की ऊँच-नीच योनियों में भ्रमण

---

१७. जै. द. स्व. और वि. (दे.मु.) पृ. १९४ १८. अष्टकप्रकरण २४ ; जैनदर्शन-न्या.वि.मु. पृ. १२३, टिप्पण सं.१
१९. वि. सू. (दुःख) १.१६ २०. वही, (दुःख)१.१७

करने के पश्चात् किसी पूर्व भव के जीवन में सत्तारूपेण पुण्य कर्म के कारण ही सुप्रतिष्ठ पुर नामक नगर में श्रेष्ठी के घर पुत्र रूप में जन्म ग्रहण किया। युवावस्था आने पर सद्गुणों को धारण किया। फिर दीक्षित होकर ईर्यासमिति का यथाविधि पालन कर रहा है। कई वर्षों तक संयम व्रत का पालन करके कालमास में काल करके पहले सौधर्म नामक देवलोक में उत्पन्न होता है। वहां पर देवसुख भोगने के पश्चात् महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर, संयमवृत्ति का पालन करते हुए मोक्ष के सुख को प्राप्त होता है।[२१]

राज्यसिंहासन में अपनी दृष्टि लगाये हुए नन्दिषेण ने श्रीदाम राजा के चित्र नामक नाई को कहा कि राजा का तुम पर पूर्ण विश्वास है, तुम राजा की हजामत बनाते समय उस्तरा राजा की गर्दन में जोर से मार देना तो तुझे आधा राज्य दे दूँगा। परन्तु जब वह वहां से उठकर आया तो देवयोग से उसके विवेक चक्षु खुल गये, वह नीचकृत्य से उत्पन्न होने वाले भयंकर परिणाम को प्रत्यक्ष देखने लगा। वह सोचने लगा कि बिना कारण ही अन्नदाता की हत्या करना बहुत बड़ा पाप है ऐसे विचार को चित्र नाई ने छोड़ दिया। जिसका पुण्य बलवान् है, उसे हानि पहुँचाने वाला संसार में कोई नहीं। महाराज श्रीदाम के पुण्य के प्रभाव से राजकुमार नन्दिषेण के पास से उठते ही चित्र नापित के विचार एकदम बदल गये। फलस्वरूप वह घातक के स्थान पर रक्षक बन गया। तात्पर्य यह है कि पुण्य के प्रभाव से चित्र स्वयं भी बचा और उसने महाराज श्रीदाम को भी बचाया।[२२] चित्र नामक नाई पूर्व पुण्य के प्रभाव से श्रीदाम राजा के यहां कार्य कर रहा है और उसे पूर्णरूप से सुख-सुविधा प्राप्त है। चित्र ने नन्दिषेण के दुष्ट विचारों का राजा को अवगत करवा कर आने वाले उत्सर्ग से बचाकर पुण्य का बन्ध किया। वह चाहता तो राजकुमार की बात मान भी सकता था लेकिन उसने ऐसा घृणित कार्य न करके पुण्य ही कमाया।[२३] गंगादत्ता जातनिदुता थी उसे शुभ संकल्प उत्पन्न हुआ कि यदि मैं प्रातःकाल सूर्य के उदय होते ही उम्बरदत्त यक्ष की पूजा अर्चना करुँ तो शायद मेरी सन्तान जीवित रह सकेगी। गंगादत्ता को ऐसा विचार उत्पन्न होना उसके पूर्व पुण्य के कारण ही है। सगरदत्त से आज्ञा मिल जाने पर गंगादत्ता उम्बरदत्त यक्ष की प्रतिमा का परिमार्जन करके, अनेक प्रकार से पूजा करती है। प्रार्थना करती है यदि मैं जीवित रहने वाले पुत्र या पुत्री को जन्म दूँ तो आपके मन्दिर में नानाविध सामग्री से आप की पूजा करूँगी और आपके नाम से दान दिया करुँगी। इस प्रकार ऐसा करके पुण्य का बन्ध कर रही है।[२४] पुष्पनन्दि ने राजा वैश्रमणदत्त के घर में जन्म लिया। पूर्व पुण्य के कारण उसे सुख-सुविधा प्राप्त थी। बड़े ठाठ-बाठ से रहता है। किसी प्रकार की कोई कमी नहीं। पिता (राजा वैश्रमणदत्त) के स्वर्गवास के बाद राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होने के बाद दास-दासियों के होते हुए भी स्वयं माता की सेवा करना तथा उनको सप्रेम भोजनादि करा देने के बाद स्वयं भोजन करना आदि जितनी भी पुष्यनन्दी की

२१. वि. सू. (दुःख) १.१९ २२. वही, (दुःख) ६.६ २३. वही, (दुःख)६.६
२४. वही, (दुःख) ७.५

मातृभक्त होने की प्रशंसा की जाए कम है। इस प्रकार अब भी पुण्य का बन्ध कर रहा है।[२५]

हस्तिनापुर में सुमुख नामक गाथापति रहता था जो कि धार्मिक व नगर का मुखिया था। एक बार गाथापति ने सुदत्त अनगार (साधु) को अपने घर की तरफ आते हुए देखा। उस दिन सुदत्त अनगार का मासक्षपण (एक महीने का उपवास) का पारणा था। गाथापति का रोम-रोम प्रसन्न हो जाता है मन, वचन, काया अर्थात् त्रिकरण शुद्धि से अनगार को आहार पानी उत्कृष्ट परिणामों से बहरा (देना) रहा है। देवलोक के देवता भी प्रसन्न हो उठे तभी उसके घर में पांच दिव्य प्रकट हुए जैसे सुवर्ण वृष्टि, पांच वर्णों के फूलों की वर्षा, वस्त्रों की वर्षा, देवदुंदुभियों का बजना, आकाश में अहोदान-अहोदान की उद्घोषणा होना। यह सब सुमुख गाथापति के पुण्य का ही प्रताप है। सुदत्त अनगार को आहार देते समय उसके भाव इतने शुद्ध थे कि उनके प्रभाव से उसने उसी समय मनुष्यभवसंबंधी आयु का पुण्य बन्ध कर लिया।[२६]

हस्तिशीर्ष नगर में महाराज अदोनशत्रु के पुत्र का नाम सुबाहु कुमार था। जिसके यहां मानवी समृद्धि अर्थात् पूर्ण ऐश्वर्य था। सुखमय जीवन व्यतीत करने के साथ ही साथ सुबाहुकुमार तप और श्रावक के बारह व्रतों की भी आराधना कर रहा है। चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी के दिनों में पौषधशाला में पौषध भी करता है। यहीं सुबाहु कुमार पूर्व भव में सुमुख गाथापति था, जिसने दान देकर मनुष्यायु का बन्ध किया। उसी वजह से अब भी सुख-सुविधा के रहते हुए तप इत्यादि करके पुण्य कर रहा है।

उपरोक्त प्रसंगों से फलित होता है कि इन व्यक्तियों ने पुण्यानुबन्धी पुण्य कर्म का बन्ध किया।[२७]

२. पापानुबन्धी पुण्य-

पूर्व जन्म के जिस पुण्य के उदय से सुख तो मिलता है, परन्तु साथ-साथ में पापासक्ति बनी रहे ऐसे पुण्य को 'पापानुबन्धी पुण्य' कहा जाता है। क्योंकि यह पुण्योदय वर्तमान में सुख देने के साथ-साथ जीवन को पतित करने में सहायक भी हो रहा है। इसलिए पाप का अनुबन्धी अर्थात् अगले जन्म में दुर्गति के उत्पादक पापचरण के साथ सम्बन्ध होने से यह पुण्य, पापानुबन्धी पुण्य कहलाता है।[२८]

शुभ अशुभ कर्मों का प्रभाव है कि इनकी स्थिति बन्ध की मर्यादा समाप्त होने पर, जब यह उदय में आते हैं तो व्यक्ति को बढ़िया से बढ़िया तथा घटिया से घटिया जीवन में जीवनयापन करने के लिए मज़बूर कर देते हैं।

शतद्वार नाम नगर में धनपति राजा राज्य किया करते थे। उसी नगर में विजय वर्द्धमान नाम का एक खेट[२९] था जो कि वैभवपूर्ण था और जिसका विस्तार पाँच सौं ग्रामों का था। उस खेट के प्रधान अधिकारी का नाम एकादी था जो कि राज्य की ओर से नियुक्त किया हुआ था।

---

२५. वि. सू. (दुःख) ९.९ २६. वही, (सुख)१.६ २७. वही, (सुख) १.७

२८. जै. द. (न्या. वि. मु.) पृ. १२३ टिप्पणं सं. १

२९. जिस के चारों ओर धूलि-मिट्टी का कोट बना हुआ हो, ऐसे नगर को खेट के नाम से पुकारा जाता है।

वैभवमयी जीवन बिताने के बावजूद वह पूरा धर्म-विरोधी, धार्मिक क्रियानुष्ठानों का प्रतिद्वन्द्वी और साधु पुरुषों का द्वेषी व असन्तोषी किसी से सन्तुष्ट न किया जाने वाला था। एकादि राष्ट्रकूट उन पांच सौ ग्रामों में निवास करने वाली प्रजा को तिरस्कृत, ताड़ित एवं पीड़ित कर रहा था। सत्ता के मद में अन्धा होकर पापों का बन्ध कर रहा है। वह अपने स्वार्थ की वर्तमानकालीन सुखसामग्री को सम्मुख रखता है।[३०]

एकादि राष्ट्रकूट अपने पूर्व जन्मों के पुण्य के कारण राजा का प्रधान अधिकारी बना। सत्ता के मद में आकर उसने प्रजा को अत्यन्त दु:खी करके अनेक प्रकार के पापों का बन्ध कर लिया। इसलिए यह कर्म पापानुबन्धी पुण्य कहा जाता है।

उज्झितक कुमार जिसका माता-पिता की छत्र-छाया में पालन-पोषन राजकुमारों की तरह हो रहा था। यह उसके पूर्व पुण्य की वजह से था। लेकिन आज वह माता-पिता से विहीन, धनसम्पत्ति के शून्य हो जाने के अतिरिक्त घर से भी निकाल दिया गया है। अब वह गली, बाजारों में घूम रहा है। जिधर मन करता उधर चल पड़ता। इस प्रकार वह स्वेच्छाचारी व स्वच्छन्दमति हो गया। उसका अधिक समय जूएखानों में, शराबखानों में व वेश्या के घरों में व्यतीत होने लगा। निरंकुशता के कारण वह चोरी करने, जुआ खेलने, शराब पीने और पर-स्त्रीगमन आदि के कुव्यसनों में आसक्त हो गया। अत: ऐसा करके वह पापों का ही बन्ध कर रहा है। यदि वह चाहता तो अच्छे मार्ग पर भी चल सकता था।[३१] अभग्नसेन का जन्म विजयचोरसेनापति के घर में हुआ, उसका पालन-पोषण पांच-पांच धायमाताओं द्वारा हो रहा है इस प्रकार वह आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा है। पिता की मृत्यु के बाद अभग्नसेन अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है। नागरिकों को लूटना, ग्रामों को जलाना, मार्ग में चलते हुए मनुष्यों का सब कुछ खोंस लेना और किसी पर भी दया न करना। इस प्रकार वह पापों का ही उपार्जन कर रहा है।[३२]

महेश्वरदत्त जितशत्रु राजा का पुरोहित था, जोकि शास्त्रों का विशेष पण्डित था। महाराजा जितशत्रु की महेश्वरदत्त पर बड़ी कृपा थी। महेश्वरदत्त राज्य की बलवृद्धि के लिए चारों वर्णों के अनेक बच्चों की बलि देता था। ऐसा जघन्य कृत्य करके वह पापों का बन्ध करता है।[३३] बहस्पतिदत्त सोमदत्त पुरोहित का पुत्र था, युवावस्था आने पर बृहस्पतिदत्त उदयन नरेश का पुरोहित बना। राजा का बृहस्पतिदत्त पर पूर्ण विश्वास था, इस कारण वह बेरोकटोक समय असमय में राजमहलों में प्रवेश करता रहता। किसी समय उद्यन राजा की रानी पद्मावती से अनुचित सम्बन्ध स्थापित हो गया। मित्र के साथ विश्वासघात व रानी के साथ अवैध सम्बन्ध रखना, ऐसा करके वह घोर पापों का बन्ध कर रहा है।[३४]

सिंहरथ राजा का दुर्योधन नामक एक चारकपाल-गृहरक्षक था। वह राजा के अनेक

३०. वि. सू. (दु:ख) १.९ ३१. वि.सू. (ज्ञा. मु.) दु. वि. २.१४ पु. १६३
३२. वही, ३.८-११ ३३. वि. सू. (दु.वि.) ५.३ ३४. वही, ५.५

चोर, परदारिक, ग्रन्थिभेदक, ऋणधारक, बालघाती, विश्वासघाती, जुआरी और धूर्त पुरुषों को राजपुरुषों के द्वारा पकड़वाकर दण्डित करता था। दुर्योधन चारकपाल की मनोवृत्ति इतनी कठोर और निर्दय बन चुकी थी कि थोड़े से अपराध पर भी अपराधी को अधिक से अधिक दण्ड देना ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था, इस प्रकार वह पापों का बन्ध कर रहा है।[३५]

नन्दिषेण का जन्म श्रीदाम राजा के यहां हुआ, उसका पालन-पोषण पाँच-पाँच धायमाताओं द्वारा हो रहा है। युवावस्था आने पर पिता ने युवराज पद प्रदान कर दिया। इस प्रकार वह आनन्दमय जीवन व्यतीत कर रहा है लेकिन उसके मन में राज्य के प्रति लोभ का आना व पिता को अनेकविध उपायों से मारने की प्रतीक्षा करना इत्यादि प्रसंग यह बतला रहे हैं कि नन्दिषेण राजकुमार पापानुबन्धी पुण्य कर्मों का फल ले रहा है और बन्ध भी कर रहा है।

विजयपुर नगर में कनकरथ नामक राजा राज्य करता था। उस कनकरथ नरेश का धन्वन्तरि नाम का एक वैद्य था जो कि विजयपुर नगर के बहुत से मनुष्यों, सनाथों, अनाथों तथा श्रमणों, ब्राह्मणों, भिक्षुकों आदि की चिकित्सा किया करता था, साथ में उन सब को पक्षियों व अनेक प्रकार के जानवरों का मांस खाने का उपदेश दिया करता था। इस प्रकार के हिंसाप्रधान चिकित्सा के व्यवसाय में पुण्योपार्जन के स्थान में अधिक से अधिक मात्रा में पापों का ही उपार्जन करता है।[३६]

महाराज महासेन व धारिणी का पुत्र सिंहसेन राजकुमार था। राजकुमार सिंहसेन का पांच सौ राजकन्याओं के साथ विवाह हुआ था इस प्रकार वह आनन्दपूर्वक समय बिता रहा था। महाराज सिंहसेन श्यामादेवी में ही मूर्च्छित व उसी का ध्यान और आदर किया करते थे बाकी चार सौ निनानवें रानियों की तरफ उसका कोई ध्यान नहीं था। इस तरह वह चार सौ निनानवें रानियों के प्रति पतिधर्म न निभा कर पापों का बन्ध करता है।[३७] इस प्रकार महाराज सिंहसेन ने महान् पापों का बन्ध कर लिया।[३८] देवदत्ता जो कि महाराज पुष्यनन्दी की रानी थी, का सुखपूर्वक जीवन व्यतीत हो रहा था। पुष्यनन्दी अपने पिता महाराज वैश्रमणदत्त की मृत्यु के बाद निरंतर अपनी मां की सेवा में लगे रहते थे। ऐसा देखकर देवदत्ता बेचैन होने लगी, उसे श्रीदेवी अपने भोगों में विघ्न नजर आती थी। एक दिन वह मौका देखकर सुख पूर्वक सोई हुई तीर्थसमान पूज्य मां को गलत ढंग से मार कर पापों का बन्ध कर लेती है।[३९]

पृथिवी श्रीनाम की गणिका कामशास्त्र की विदुषी, अनेक कलाओं में निपुण व बहुत-सी भाषाओं की जानकार थी। इसके अतिरिक्त नृत्य और संगीत कला में भी वह अद्वितीय थी। इसी कला के प्रभाव से वह राजमान्य हो गई और उसके शासन में हजारों वेश्याएं रहती थी। इस प्रकार वह आनन्दपूर्वक जीवन बिता रही थीं।[४०] यह सब पुण्य का प्रभाव था। पृथिवी श्री अपने शारीरिक सौन्दर्य तथा कलाप्रदर्शन के द्वारा नगर

---

३५. वि. सू. (दु. वि.) ६.४ ३६. वही, ७.४ ३७. वही, ९.३
३८. वही, ९.५ ३९. वही, ९.१० ४०. वही, (दु:ख) १०.२

के अनेक राजा, ईश्वर सार्थवाह आदि लोगों को चूणादि के प्रयोगों से वश में करके मनुष्यसम्बन्धी उदार-कामभोगों का यथेष्ट उपभोग करती हुई सुखी जीवन बिता रही थी। साथ में वह, पापकर्म का बन्ध भी करती हुई प्रतीत होती है।[४१]

उपरोक्त प्रसंगों से फलित होता है कि इन व्यक्तियों ने पापानुबन्धी पुण्य कर्म का बन्ध किया है।

३. पुण्यानुबन्धी पाप-

पुण्य का अनुबन्धी अर्थात् परलोक साधक पुण्य साधना के साथ प्रतिकूल न होने जैसा सम्बन्ध रखने वाला जो पापोदय (पाप है) है वह 'पुण्यानुबन्धी पाप' कहलाता है।[४२] यह भविष्य के अच्छे परलोक के लिए की जाने वाली पुण्य क्रिया में बाधक नहीं होता। अभिप्राय यह है कि जन्मान्तर के जिस पाप के उदय से दरिद्रता आदि दु:ख सहने पर भी जीव पापाचरण न करे और पुण्यमार्ग रूप धर्मसाधन में हमेशा प्रयत्नशील बना रहे ऐसे व्यक्ति के पाप को 'पुण्यानुबन्धी पाप' कहेंगे क्योंकि यह पाप (पापोदय) वर्तमान जीवन में जीव को दु:खदायी होने पर भी उसके अगले जीवन को पापी बनाने में निमित्त नहीं बनता।

महेश्वरदत्त जितशत्रु नरेश का पुरोहित था। वह राज्य की बल वृद्धि के लिए चारों वर्णों के बालकों की बलि देता था। उसका यह ख्याल था कि मेरे ऐसा करने से राज्य पर कोई आपत्ति नहीं आयेगी। वह पाप कर रहा था किन्तु साथ में राज्य की वृद्धि का सोचता था। महेश्वरदत्त के इस हिंसाप्रधान होम-यज्ञ के अनुष्ठान से जितशत्रु नरेश को अपने शत्रुओं पर सर्वत्र विजय प्राप्त होती और उसके सन्मुख कोई शत्रु टिकता नहीं था। वह या तो वहीं पर नष्ट हो जाता या परास्त होकर भाग जाता था। इस प्रकार वह राजा के प्रति स्वकर्तव्य निर्वाह कर पुण्य कमा रहा था। इसी कारण महेश्वरदत्त पुरोहित जितशत्रु नरेश का सर्वाधिक सम्मानभाजन बना हुआ था, और राज्य में उसका काफी प्रभाव था।[४३] दुर्योधन नाम का एक चारकपाल (जेलर) था। अपराधियों को दण्ड देने में उसके परिणाम अत्यन्त कठोर और अमर्यादित थे। महाराज सिंहरथ के राज्य में जो लोग चोरी करते, दूसरों की स्त्रियां का अपहरण करते, लोगों का धन चुराते, राज्य को हानि पहुँचाने का यत्न करते तथा बालहत्या और विश्वासघात करते, उनको दुर्योधन कोतवाल अधिक से अधिक दण्ड देता था। इस प्रकार करके वह राजसेवा का लाभ ले रहा है। कर्तव्यनिष्ठा से राजसेवा करना भी पुण्य है।[४४] धन्वन्तरि नाम का एक वैद्य था, जो कि लोगों को ठीक करने के लिए मूकप्रणियों के मांसों को खाने का उपदेश करता था। इस प्रकार धन्वन्तरि के जीव ने अपने हिंसाप्रधान चिकित्सा के व्यवसाय में पापों के बन्ध के साथ-साथ पुण्योपार्जन भी किया।[४५] श्रीद नामक रसोइया था जो कि महा अधर्मी व बड़ी कठिनाई से प्रसन्न होने वाला था। श्रीद रसोइया अनेक प्रकार के जीवों को

४१. वि. सू. (दु. वि.) १०.२ ४२. अष्टकप्रकरण २४.४, जै.द.न्या.वि.मु.पृ. १२४;टिप्पण ४
४३. वि. सू. (ज्ञा. मु.) दु. वि. ५.३. पृ. ३२ ४४. वही, ६.४ पृ. ३५१-३५२
४५. वही, वि.सू. (ज्ञा. मु.) दु. वि. ७४, पृ. ३८७

मारकर उन मांसों को अनेक ढंगों द्वारा तलता, भूनता और शूला द्वारा पकाता था एवं विविध प्रकार के हरे शाकों को तैयार करता और महाराज मित्र के भोजनमण्डप में तैयार किये उन मांसादि पदार्थों को लाकर भोजन के समय महाराज मित्र नरेश को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार राजा की सेवा करके पुण्य कर रहा है।[४६]

उपरोक्त प्रसंग से मालूम हुआ है कि इन व्यक्तियों ने पुण्यानुबन्धी पापकर्म का बन्ध किया है।

४. पापानुबन्धी पाप-

वर्तमान समय में जो जीव गरीबी, भुखमरी आदि दु:खावस्थाओं से पीड़ित होता हुआ भी पाप कर्म से विरत नहीं होता- ऐसा जिस पापोदय के कारण होता है उसे 'पापनुबन्धी पाप' कहा जाता है।[४७] क्योंकि पापकर्मों का दु:खविपाक (फल) मिलने पर जीव पापकर्मों से विरत नहीं हो रहा होता है। अत: यह पाप पारलौकिक दुर्गति के उत्पादक पापाचरण के साथ सम्बन्ध बनाने वाला होने से पापानुबन्धी पाप हुआ।

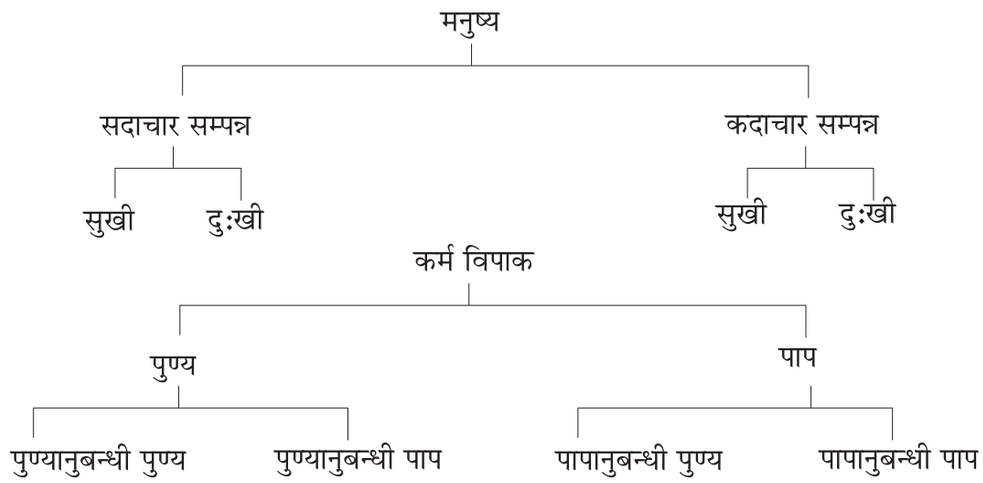
गोत्रास का जन्म भीम कूटग्राह (धोखे से जीवों को फंसाने वाला) के यहां हुआ। उसका पिता नीच काम करता है। पिता की मृत्यु के बाद गोत्रास स्वयं कूटग्राह के पद पर नियुक्त हुआ। अब वह धोखे से गो आदि नागरिक पशुओं के अंगों उपांगों को काटकर लाता, एवं उन मांसों को शूलादि में पिरोकर पकाता और उसका मदिरादि के साथ सेवन करता था। इस प्रकार अब भी वह अच्छे कार्य न करके पापमयी कार्यों में तल्लीन रहता है। पुण्य न कमाकर पाप का ही बन्ध कर रहा है।[४८]

प्रियसेन का गणिका कुल (नीच कुल) में जन्म लेना व वहां रहकर भी अनेकविध विद्याप्रयोगों, मंत्रों द्वारा मंत्रित, चूर्णादि के योग से अनेक राजाओं व अन्य मनुष्यों को वशीभूत करके मनुष्य-सम्बन्धी विषयभोगों का उपभोग करके पापों का बन्ध कर रहा है।[४९] इसी प्रकार पृथिवी श्री वेश्या भी मंत्र-चूर्णादि के योग से अनेक राजाओं व मनुष्यों के साथ उपभोग करती हुई आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए अनेक पापों का बन्ध कर रही है।[५०]

उपर्युक्त प्रसंग से विदित हुआ है कि इन व्यक्तियों ने पापानुबन्धी पाप का बन्ध किया है। उपर्युक्त पुण्य-पाप को निम्नलिखित तालिका द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है-

---

४६. वि. सू. (ज्ञा. मु.) दु. वि. ८.३, पृ. ४३२-४३३
४७. (अष्टकप्रकरण २४.३) जै. द. (न्या. वि. मु.) पृ. १२३, टिप्पण ३
४८. वि. सू. (ज्ञा. मु.) दु. वि. २.११, पृ. १५३
४९. वही, २.१८ ५०. वही, १०.२



इसके आगे इनके भेद तथा उपभेद भी दिखाए गए हैं। जीवमात्र के जितने भेद किए गए हैं। वे सभी जीव अनेक प्रकार की कायिक, वाचिक, मानसिक एवं जन्म-मृत्यु, आधि-व्याधि, वध, बन्ध, चिन्ता और कण्टकादि पुद्गलों का निमित्त प्राप्त कर दु:ख आदि का अनुभव करते हैं। इसके अनेक कारण हैं। निष्कर्षरूप से यही ज्ञात होता है कि जीव अनेक प्राणियों को दु:ख देने से असाता वेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं।[५०]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राणीमात्र को जो भी सुख या दु:ख प्राप्त होते हैं, उसको न परमात्मा देता है और न कोई दूसरा देव या कोई मनुष्य ही देता है। परञ्च वे सभी के सभी अपने ही पूर्व किए गए साता-असाता वेदनीय स्वरूप कर्म बीज के फल है।[५१]

- चन्दा जैन आश्रम, करताराम गली, वेणी प्रसाद के सामने,
निकट ठाकुरद्वारा, लुधियाना

---

५०. त. सूत्र. ६.१२ ५१. भ. सू. ७, ६.२०६

महर्षि दयानन्द सरस्वती

- डॉ. रीना तालवाड़

हमारी संस्कृति में गुरु को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। भारत में ऐसे अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया है जिन्होंने इस देश की दशा और दिशा को बदला है। आर्य समाज के संस्थापक, महान् समाज-सुधारक दलितों के उद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती अद्‌भुत प्रतिभा के धनी थे। ऐसे महान् पुरुष के जो गुरु हुए हैं वे हैं- गुरु विरजानन्द दण्डी। जिनको सूरदास गुरु या अन्धे गुरु की उपाधि प्राप्त है। वे महाभारत के बाद वेदों के उद्धारक तथा इस दुनिया को महर्षि दयानन्द जैसे सिपाही देने वाले जो वेदों का भाष्य करने वाले एवं गुरुकुल का निर्माण करने वाले महान् पुरुष हुए हैं। जैसे बगुला पानी और दूध को अलग करके हमें बता देता है कि क्या लेना है और क्या नहीं ? उसी तरह गुरु विरजानन्द ने भारतीय संस्कृति में क्या मूल्यहीन है उसे अलग कर दिया।

गुरु विरजानन्द दण्डी का जन्म ब्राह्मण परिवार में भारद्वाज गोत्र में हुआ। इनके पिता का नाम श्री नारायण दत्त था। इनका जन्म करतारपुर जिला जालन्धर में हुआ। इस स्थान पर आज भी गुरुकुल चल रहा है जहाँ पर छात्र निःशुल्क संस्कृत, वेद, उपनिषद् आदि की शिक्षा के साथ आधुनिक विषयों की शिक्षा भी प्राप्त करते हैं। पांच वर्ष की आयु में गुरु विरजानन्द को चेचक हुई अर्थात् शीतला माता हुई। जब उनको चेचक हुई तो उनकी आँखे चली गईं। ८ वर्ष की आयु में माता-पिता ने उन्हें घर पर ही पढ़ाना शुरु कर दिया। अपने घर पर ही उन्होंने संस्कृतभाषा का ज्ञान अर्जित किया। जब वे १२ वर्ष के थे तो उनके माता-पिता चल बसे। उनके बड़े भाई और भाभी का उनके प्रति व्यवहार ठीक नहीं था। उनका व्यवहार ठीक न होने के कारण वे अत्यन्त व्याकुल रहते थे, उनसे तंग आकर वे घर छोड़कर चले गए। चाहे वह देख नहीं सकते थे, लेकिन परमात्मा में उनका दृढ़ विश्वास था। उन्होंने ऋषिकेश में तीन वर्ष तक गंगा नदी में गायत्री का जाप किया। ऋषिकेश के बाद कनखल गए। २० वर्ष की आयु (१७९८ ई.) में स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास लिया और संन्यास लेकर संस्कृत व्याकरण पढ़ना शुरू किया। पूर्णानन्द सरस्वती ने गुरु विरजानन्द को महाभाष्य, वेद एवं दर्शन पढ़ने के लिए प्रेरित किया। उसके बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि ऋषिकेश में उन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं मिल सकता। इसके बाद वे कलकत्ता गए और काशी में पहुँचे। सभी स्थानों पर उन्होंने वेदों का प्रचार एवं प्रसार किया।

गुरु विरजानन्द प्रज्ञाचक्षु थे। उनको दिखाई नहीं देता था लेकिन उनकी स्मरण-शक्ति इतनी

तेज थी कि वे एक बार जो सुन लेते थे वह उसे याद कर लेते थे। उन्हें समाज में बहुत मान-सम्मान था। उन्हें विभिन्न कार्यक्रमों, भाषणों एवं सत्संगों में बुलाया जाता था। उन्होंने २१ वर्ष की उम्र में काशी में सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लिय। काशी से गया में जाकर उन्होंने एक वर्ष तक वेदान्त का अध्ययन किया। फिर कलकत्ता में उन्होंने अनेक शास्त्रों, साहित्य दर्पण, काव्य-शास्त्र, रसगंगाधर, दर्शन, आयुर्वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। आज हमें गुरु विरजानन्द से प्रेरणा लेने की आवश्यकता है। वे एक ऐसे दीव्य व्यक्तित्व के स्वामी थे, जिनकी आँखे न होने के बावजूद उन्होंने सभी वेदों, उपनिषदों, अष्टाध्यायी को स्मरण किया।

१८३२ ई. में गुरु विरजानन्द जी गंगा के अन्दर खड़े होकर विष्णुस्तोत्र का पाठ कर रहे थे। उनका शुद्ध उच्चारण देखकर अलवर के राजा विनय सिंह उनके बहुत प्रभावित हुए। वे गुरु जी को अलबर ले गये। वहां उन्होंने राजा विनयसिंह और उसके परिवार को थोड़े समय में ही इतना तैयार कर दिया कि राजा संस्कृत में भाषण देने लगे थे। गुरु विरजानन्द बहुत अनुशासित थे। लेकिन जब वे राजा को पढ़ाते थे तो वह समय पर पढ़ने के लिए नहीं पहुँचते थे। एक शिकायत ओर थी कि अलवर का राजा ढोंग, आडम्बर, पाखण्ड करता था। उस समय यह माना जाता था कि संस्कृत में जो लिखा है, वही धर्म है। उस समय संस्कृत भाषा में बहुत मिलावट हो गई थी। तब गुरु विरजानन्द ने अलवर छोड़ने का निश्चय कर लिय। इसके बाद वे सोरों आए। एक दिन सहसा दण्डी जी का शरीर रुग्ण हो गया। रोग इतना बढ़ा कि दण्डी जी के भक्त उनके जीवन से निराश हो गए। गुरु-भक्त शिखामणि अंगदराम की सेवा परायणता तथा साधुसेवी वैरागीशिरोमणि मथुरादास की भक्तिमयी शुश्रूषा ने दण्डी के प्राणों को प्रयाण करने से रोक दिया। वहां विरजानन्द को अपने लक्ष्य की सिद्धि का कोई भी साधन दृष्टिगोचर न हुआ, अतः वहां से चलकर वे मथुरा आये। उन्होंने मथुरा में रहकर पाखण्ड, ढोंग और आडम्बर की प्रमाणिकता पर सवाल उठाया। उन्होंने जन-साधारण को वेद, उपनिषद्, दर्शन और स्मृतियाँ आदि पढ़ने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने कहा कि यदि व्याकरण का अध्ययन करना है तो अष्टाध्यायी और महाभाष्य का पठन-पाठन कीजिए। उन्होंने मथुरा में गुरुकुल खोला। जब वे गुरुकुल में दाखिला देते थे तो प्रत्येक विद्यार्थी की प्रवेशपरीक्षा स्वयं लेते थे और इस बात का निर्णय करते थे कि उस विद्यार्थी का समर्पणभाव कितना है? उसकी स्मरणशक्ति कितनी है? इस आधार पर ही उसे गुरुकुल में प्रवेश मिलता था। जब छात्र गुरुकुल में पढ़ने आता था तो गुरु जी पूछते थे कि अगर तुमने मनुष्यों द्वारा बनाई गई कोई विद्या सीखी है तो उसे यमुना में बहा कर आओ। फिर ही मैं तुम्हें शिक्षा-दीक्षा दे सकता हूँ। उन्होंने १८५७ ई की क्रान्ति में लोगों को संगठित करने का, जंगलों में सभाएँ करने का काम किया। उन्होंने हिन्दुओं को समझाया कि अगर वे मूर्ति पूजा, पाखण्ड और

फलित ज्योतिष आदि के चक्कर में पड़ेगें तो उनका कल्याण नहीं हो सकेगा।

विरजानन्द जानते थे कि व्याकरण का प्रयोग वेदादि के लिये है, अत: वे व्याकरण को इस प्रकार पढ़ाया जाना पसन्द करते थे जिससे व्याकरण पढ़ते समय ही विद्यार्थी को वेदादि से परिचय हो जाये। वे पढ़ाते समय वेदशास्त्रों से उदाहरण दिये जाने के पक्ष में थे। इन बातों से उनकी वेदनिष्ठा, शास्त्र-आस्था एवं ऋषिभक्ति हमारे सामने आती है। दण्डी जी पाठशाला में प्रात: से रात्रि पर्यन्त पढ़ाते थे, जितना कोई विद्यार्थी पढ़ना चाहे, जितना समय पढ़ना चाहें, उतना समय अनवरत पढ़ाते थे। अत: विश्राम का नाम ने लेते थे। उनके इस परिश्रम का एक ही लक्ष्य था- आर्ष-ग्रन्थप्रसार।

एक बार रंगाचार्य के गुरु अनन्ताचार्य से मुरसान में दण्डी जी का शास्त्रार्थ हुआ, जो निरन्तर तीन मास चलता रहा, अन्त में अनन्ताचार्य यह कहकर भाग गया कि मैं पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करूंगा। किन्तु वह तो केवल जान बचाने का उपाय मात्र था।

१८६० ई. में गुरु विरजानन्द को महर्षि दयानन्द के रूप में एक तेजस्वी शिष्य मिले। जब स्वामी दयानन्द अध्ययन समाप्त होने के पश्चात् गुरुदक्षिणा में लौंग लेकर आते हैं। उस समय गुरु विरजानन्द उनसे कहते हैं कि हे दयानन्द! मुझे तो तुमसे कुछ ओर ही चाहिए। यह सुनकर आदर्श शिष्य अपने आदर्श गुरु के चरणों में अपना सिर रख कर विनय से कहते हैं कि गुरु जी! मेरा तन तथा मन आज से गुरु जी के अर्पण है।

विरजानन्द ने दयानन्द को कहा- वत्स दयानन्द! वैदिक धर्म का लोप-सा हो चुका है। तुम जाओ, वैदिक धर्म, वेद तथा आर्ष ग्रन्थों का पुन: प्रचार करके उनका उद्धार करो। स्वामी दयानन्द एक ऐसा शिष्य था कि जब तक पढ़ता रहा धुएँ की तरह प्रदीप्त होता रहा, जब पढ़कर समाज में आया तो ज्वालामुखी बनकर सामाजिक कुरीतियों, मिथ्या आडम्बरों को समाप्त कर दिया। उनको कुछ पंक्तियाँ समर्पित है:-

हे युगदर्शक, हे स्त्री समर्थक कैसा संकल्प किया तुमने,
जगा दिया सोये भारत को, एक अकेले ही तुमने
वेदों को पुनर्जन्म दे तुमने, सत्य ज्ञान को अपनाया,
सत्य, अहिंसा, वेदज्ञान संदेश तुम्हीं ने फैलाया,
खण्डित पाखण्ड किए तुमने, हर त्रुटि को तुमने ठुकराया,
पाखण्ड-खण्डिनी पताका को, तूने ही फहराया।
श्रद्धा में ही अर्पित तुमको, शत बार नमन मेरा तुमको।

महर्षि दयानन्द आर्य-समाज के संस्थापक, महान् समाज-सुधारक, स्त्रीजाति के समर्थक, दलितों के उद्धारक अद्‌भुत प्रतिभा के धनी थे। यह उनके ही प्रयत्नों का परिणाम है कि स्त्रीजाति आज शिक्षित होकर समाज को उन्नति के शिखर पर ले जा सकी है। समस्त नारी-शक्ति ऋषि के ऋण का बदला कभी नहीं चुका सकती।

'उपकार तुम्हारे इतने हैं, जिनकी मै गिना नहीं सकती।
कण-कण में आप समाये हो, जग को मैं दिखा नहीं सकती।

आज महर्षि दयानन्द के प्रयत्नों का ही परिणाम है कि विश्व पटल पर वैदिक संस्कृति का डंका बज रहा है। मैं यह बात दावे से कह सकती

हूँ कि जिसने एक बार ऋषि दयानन्द को पढ़ लिया, वह जिन्दगी में जीवन-मूल्यों से कभी समझौता नहीं कर सकता। बाधाएँ उसको रोक नहीं सकतीं, आँधी और तूफान उसे विचलित नहीं कर सकते।

जब १४ सितम्बर १८६८ में गुरु विरजानन्द का निधन हुआ तो स्वामी दयानन्द ने कहा कि आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया। उन्होंने उस दिन जल भी ग्रहण नहीं किया। वे अपने गुरु को सच्चा गुरु मानते थे और उनके लिए पूरी तरह समर्पित थे। उनको १८ बार विष दिया गया लेकिन वह अपने संकल्प के रास्ते पर डटे रहे। गुरु विरजानन्द एक कुशल शिक्षक एवं आदर्श गुरु थे। वे अपने शिष्यों में कोई त्रुटि नहीं रहने देना चाहते थे। दयानन्द ने अपने सार्वजनिक जीवन में गुरु जी की इस भावना को पूर्णतया मूर्त्त रूप देकर संसार को मानो जता दिया कि कुशल शिल्पी की रचना अथवा संस्कारिता कितनी गुणवती और निर्दोष होती है।

आधुनिक युग में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभावाधीन आज के छात्र आये दिन हड़ताल की ताल ठोंकते हैं, अपने गुरुओं का अपमान करते और उनकी हत्या करने से भी नहीं चूकते। दयानंद भी एक छात्र थे जो गुरु की ताड़ना, भर्त्सना को अपने लिए अमृत मानकर गुरु की अभ्यर्थना करते थे, प्राणपण से उन्हें मनाने का यत्न करते थे। इसी व्यवहार से स्वामी दयानन्द ने युग-प्रवर्त्तक आचार्य की पदवी पाई। आज का छात्र अपनी अयोग्यता के कारण कहीं स्थान न पाकर सरकार को दोष देता है। कई युवा तो निराश होकर प्राणघात कर लेते हैं। अतः गुरु हो तो स्वामी विरजानन्द जैसा और शिष्य हो तो स्वामी दयानन्द जैसा। आज कल कई अध्यापकों ने भी शिक्षा का व्यवसायीकरण कर दिया है। उनमें समर्पण भाव, अनुशासन, सहनशीलता, एवं उच्च लक्ष्य की कमी है। आदर्श शिक्षक ही आदर्श छात्र का सर्वांगीण विकास करने में सक्षम है। जब तक संसार में आर्ष वाङ्मय है तब तक गुरु विरजानन्द जीवित है। उन्होंने महर्षि दयानन्द के रूप में एक दिव्य-ज्योति संसार को दी।

- एसोसिऐट प्रोफैसर, शान्ति देवी आर्य महिला महाविद्यालय, दीनानगर (पंजाब)।

प्रकाश-पर्व की परम्परा

- श्री भद्रसेन

मनुष्य एक विचारशील सामाजिक प्राणी है। मनुष्य का प्रत्येक व्यवहार/कार्य ज्ञान/विद्या से सम्पन्न होता है। मानवों को गुरुजन, शास्त्रों, परम्परा, रिवाज रीत से बोध प्राप्त होता है। परम्परा का भाव है- परात्-पर/पर-पर आगे से आगे होते रहना।

प्रकाश- प्रकाश शब्द बहुत प्रसिद्ध है। अन्धकार को दूर करने/रखने वाला/प्रकाश,विकाश (न कि विकास) का शाब्दिक अर्थ है-चमक होना, स्पष्ट करना, विद्या का होना। आंखें खोलना = समझ आना भी इसी भाव को कहता है।

मानव जीवन का निर्वाह प्रकाश के माध्यम से सरलतापूर्वक होता है। हमारे प्रतिदिन के बहुत सारे कार्य आंखों द्वारा देखने पर निर्भर हैं। नेत्र प्रकाश की सहायता से देखने में समर्थ होते हैं। अन्धेरे में आंखें कुछ भी देखने में और करने में सक्षम नहीं होतीं। दिन में सूर्य का प्रकाश स्वाभाविक रूप से प्राप्त होता है। दिन-दिवस शब्द प्रकाश, चमक का संकेत करते हैं।

सूर्य की तरह चन्द्रमा, अग्नि प्राकृतिक प्रकाश करते हैं/देते हैं। पर सूर्य जैसा नहीं। चान्द का प्रकाश अस्थायी, अस्पष्ट, अनिश्चित, अल्प, अधूरा होता है। अग्नि इन्धन की सहायता से जलती है तब प्रकाश देती है। लकड़ी, कोयला, तेल, गैस आदि आग के सहायक बनते हैं। अग्नि इन्धन को अपने आपका हिस्सा बना लेती है। अग्नि को इसी दृष्टि से तेज भी कहते हैं। प्रकाश और शक्ति दोनों ही अर्थ हैं। आज समय के साथ गैस, बिजली आगे आ रही हैं। विशेषतः विद्युत् ने सूर्य के प्रकाश की कमी को बहुत कुछ पूरा कर दिया है। यन्त्रचालन में विद्युत् का सहयोग अप्रतिम बन गया है। निःसन्देह एतदर्थ जल, कोयला के साथ अब पत्ते-घास, गोबर जहां इन्धन बन रहे हैं, वहां सौर-पवन-परमाणु आदि भी सामने आ रहे हैं। हां, विशेषतः रात को प्रकाश की कोई न कोई व्यवस्था अपेक्षित होती है, करनी पड़ती है। इसीलिए इतिहास इस प्रबन्ध की कहानी को सदा कहता रहेगा। दीपमाला के दीपक, मोमबत्ती, रंग-बिरंगी बिजती प्रकाश की कहानी को कहते हैं, इस के साथ वे-वे रूप दीपावली की शोभा को भी बढ़ाते हैं। यजुर्वेद के **सूर्यो ज्योतिः- अग्निः ज्योतिः अग्निना-अग्निः** समिध्यते- जैसे वचन प्रारम्भ से ही इस क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक रहे हैं।

प्रकाश का महत्त्व- उपनिषत्कार ने 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने, अनुसरण, उस का प्रबन्ध करने की भावना, शक्ति, सामर्थ्य दो। हम सदा सर्वथा अन्धकार से जुड़ी

बातों से दूर रहते हुए प्रकाश की तरह स्पष्ट, सुनिश्चित, सुपरीक्षित, प्रमाणित बातों/कार्यों का समर्थन करें, अपनायें। अन्धेरे में ठोकरें ही लगती रहती हैं। भय की सम्भावना, आशंका बनी रहती है। उसमें हम कुछ देख नहीं सकते, कुछ कर नहीं पाते। हां, प्रकाश में ही देख सकते हैं। किसी कार्य को करने में समर्थ होते हैं। प्रकाश में व्यक्ति आश्वस्त रहता है। तब वह व्यवहार की वस्तुओं, कार्यस्थल ओजारों/सहायक साधनों आदि को स्पष्ट, प्रत्यक्ष देखता है। उन-उन को करने में सक्षम होता है। प्रकाश के इस महत्त्व, लाभ, उपयोगिता का अनुभव करने-कराने के लिए ही दीपमाला के पर्व की प्रतिष्ठा, मान्यता, गरिमा है।

पर्व का आयोजन- हमारी परम्परा में प्रकाश पर्व को उत्साह, अमंग के साथ आयोजित करने का प्रचलन है। इस से यह प्रमाणित किया जाता है, कि जीवन का व्यवहार चलाने के लिए प्रकाश अनिवार्य है। इस के बिना दिनचर्या सरलता से नहीं चलती। अत: रात या अन्धकार में प्रकाश करने का प्रयास यथाशक्ति करते हैं। प्रकाश हमें बहुत कुछ करने का सुअवसर, सामर्थ्य देता है। यहां यह तथ्य ध्यान देने योग्य है, कि प्रकाश पर्व का सारा कार्यकलाप बाह्य रूप से रंग-रोगन, लाईटें जग-मगा कर, फटाके चला कर के ही हम सन्तुष्ट न हो जायें। यह सब करते हुए ज्ञान के प्रसार और विज्ञानसम्मत स्पष्ट बातों को भी अपनायें। प्रकाश सदृश सचाई को भी स्वीकार्य बनायें। आज के आकर्षणों को अपनाते हुए परम्परा के अनुरूप आपस के सम्बन्धों को भी श्रीराम की तरह सच्चे-सुच्चे रूप में अपनायें।

प्रकाश महापुरुष- प्रकाश के समान महापुरुष भी लाखों के मार्गदर्शक होते हैं। प्रकाश पर्व वाले दिन ही अनेक महापुरुषों से सम्बद्ध जीवन की नानाविध घटनायों घटीं। अत: ये ऐतिहासिक रूप से सम्बद्ध हो कर इतिहास का विषय बन गईं। अत: दीपमाला अपने दीपों के समान मार्गदर्शन करने-कराने वाले महापुरुष भी इस पथप्रदर्शन से दीपमाला के मनके, मुख्यरूप में चरितार्थ हो गए। तभी तो दीपावली पर महापुरुष से सम्बद्ध संगठन अपने आप्त पुरुष का विशेष स्मरण, उत्सव करते हैं। इस का कोई एक उद्धरण उदधृत करना हो, तो मैं महर्षि दयानन्द का नाम प्रस्तुत करूंगा। आप का प्रत्येक विचार प्रकाश के सदृश प्रत्यक्ष, परीक्षित, सुनिश्चित और स्पष्ट है।

पर्व- पर्व शब्द आज त्योहार, उत्सव अर्थ में प्रसिद्ध है। पर्व शब्द मूलत: मेल, संगठन, गांठ, पोरे के अर्थ में है। पर्वत=पर्व-त=वाला। पर्वत में पत्थरों का मेल, संयोग होता है। ऐसे ही हाथ की अगुंलियों, गन्ने, बांस में गांठ, जोड़ होता है/रहता है। वस्तुत: भारतीय परम्परा में पूर्णिमा (पूरा-मास), अमावस्या अमा=अन्धेरे का वस्या=बसना, होना के दोनों ओर पन्द्रह-पन्द्रह दिनों का योग होता है। अत: पन्दरवाड़ा, पखवाड़ा कहलाता है। हां, कभी-कभी तिथिविशेष का घटना-बढ़ना भी हो जाता है। पूर्णिमा-अमावस्या के अवसर पर विशेष यज्ञ, कथा होती थी। अत: वहां इकठ्ठ हो जाता था। कहीं-कहीं अब भी चलता है। पर्व-पक्ष शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष।

परम्परा- परम्परा=चली आ रही प्रथा, रिवाज- भी इस को कहते हैं (री+वाईज)। रीत, रीति भी कहा जाता है। परम्परा-परात्-पर (पर-पर) चली आ रही प्रथा, आगे से आगे चलना/चलने वाली स्थिति, रिवाज (री+वाईज)। वशंवदा, प्रियंवदा जैसा व्याकरण का यहां व्यवहार/प्रयोग है। परम्परा=मूल, जड़ के समान अपने से जुड़े कार्य, संगठन, व्यवस्था, प्रणाली को आगे आगे बढ़ाती है। जीवित रखती है। परम्परा के इस महत्त्व को समझने के लिए प्रसंगवश उपनिषदों के दो वाक्यों/प्रकरणों की यहां विशेष विवेचना (विचार) करते हैं।

परम्परा का संरक्षण- तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षा वल्ली में दीक्षान्त से सम्बद्ध एक प्रसिद्ध विवेचन है। स्नातक शिक्षा सम्पूर्ण करने वाले को सारांश के रूप में जीवन-सन्देश दिया गया है। 'सत्यं वद, धर्मं चर-- इस उद्धरण के अन्तिम शब्द हैं- **एष उपदेश एष आदेशः, एतत्-अनुशासनम्**। इन संकेतों से स्पष्ट होता है, कि सफल जीवन का यहां निचोड़/निष्कर्ष दिया गया है। इन में से एक सूत्र है- 'प्रजातन्तुं मा व्यवछेत्सी= प्रजा रूपी धागे को मत तोड़। प्रजा- प्र-प्रकृष्ट, अच्छा + जा = जनन = आगे का प्रकटाव / फैलाव / विकास / परम्परा का सार्थक, विज्ञान सम्मत प्रचलन होते रहना चाहिए।

जीवन को जीवित, पूर्ण करने/रखने वाली अपेक्षित संस्थाओं/ जैसे कि शिक्षणालय की परम्परा का प्रचलन अनवरत रहना चाहिए। यह शृंखला टूटनी नहीं चाहिए। इन के संरक्षण के लिए सदा-सर्वथा यथाशक्ति सहयोग करते/देते रहना चाहिए। यह सहयोग श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा, संकोच आदि के रूप में जैसे-कैसे भी हो, करना चाहिए।

शिक्षा व्यवस्था जीवन, व्यक्तित्व निर्माण का एक अत्यन्त अपेक्षित कार्यक्रम है। शिक्षा संस्था में शिक्षक शिष्य (विद्यार्थीगण)-पाठ्यक्रम-प्रबन्धक (सहायक) भवन आदि की गिनती आती है। इस संस्था = सम् + स्था = सुस्थिर होने प्रचलन, परम्परा का संरक्षण हो। इस का प्रवहमान रखना सभी शिक्षितों का कर्तव्य हो जाता है। अतः प्रत्येक शिक्षित एतदर्थ सजग हो।

परम्परा संरक्षण का दूसरा प्रसंग है- सन्मूलाः सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः सोम्य! प्रिय विचारशील! संसार की इमाः ये सर्वाः =सारी प्रजाः = सन्तानें सम् + तान = अच्छा फैलाव, आगे बढ़ना, प्रजा प्र + जा = अच्छा जनन = प्रकटाव, फैलाव, प्रगति, विकास परम्परा मूलाःजड़, कारण के सत् = होने पर ही होता है। जैसे खेती में जड़/बीज के अंकुरित/जमने पर ही पौधा पनपता है। कारण से ही कार्य प्रकाश में आता है। अतः प्रगति, विकास चाहने वाले को सदा उस-उस के कारण का सर्वथा संरक्षण करना चाहिए। यह एक परम्परा है, प्रत्येक आगे से आगे बढ़ाने वाली चीज है। उस-उस को आगे-आगे से आगे बढ़ने वाले साधनों/कारणों/जड़ द्वारा जीवित रखा जा सकता है। कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता है। अतः छान्दोग्य उपनिषद् का सुझाव है, कि मूल=जड़/कारण को सदा-सर्वथा संरक्षित,

सुरक्षित, जीवित, प्रवहमान बनाने का प्रयास करना चाहिए।

परम्परा को प्रवहमान रखने की भावना से ही हम प्रकाशपर्व आयोजित करते हैं।

परम्परा की परिभाषा- महर्षि दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में मनुस्मृति का उद्धरण देते हुए लिखा है, कि परम्परा एक-दो पीढ़ी की ही नहीं होती। येनास्य पितरो माता येन माता पितामहा:- भारतीय इतिहास में इस बात का प्रमाण है, कि वेद तथा वैदिक क्रम से आने वाली प्रथा ही भारतीय परम्परा है। मनु ने स्वयं ही बार-बार कहा है, कि वेद के पढ़ने के पश्चात् जो-जो बात समझ में आई, वही स्मृति है। मनु ने अनेकत्र वेदोदित स्वकं कर्म-वेद के अनुकूल चलना ही परम्परा का पालन है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है, कि परम्परा का अर्थ है- प्रस्तुत का आगे से आगे बढ़ना। हम नदियों, नहरों, जलस्रोतों में धार्मिक कर्म में प्रयुक्त पत्ते, फूल, फल आदि प्रवाहित करते हैं। इस से वहां का जल रुकता-सड़ता है और प्रक्षिप्त पदार्थ भी। ऐसी स्थिति में महर्षि ने पाचवें नियम में कहा है- 'सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्स का विचार करके करने चाहिएं। अत: प्रत्यक्ष, परिणाम कसौटी है।

परम्परा का पालन कितना- प्रकाश पर्व की परम्परा को निभाने के लिए हम बड़े उत्साह और उमंग से इस त्योहार को रचाते हैं। आश्चर्य तो तब होता है, जब हम अपने हित, अच्छाई को चाहते हुए भी जानबूझ कर फटाके पर फटाके की होड़ शुरु कर देते हैं। तब न पर्यावरण की बिगाड़ याद रहती है और न ही विज्ञान (यथार्थ) दुहाई पुकार। रिवाज के नाम पर जुआ खेल कर और अपनी खुशी बढ़ाने के बहाने से शराब पीकर मर्यादा को तार-तार करने से भी पीछे नहीं रहते।

दीपमाला का एक-एक जलता दीप हम से बहुत कुछ कहता हुआ लगता है। अत: आइए! इन संकेतों को समझते हुए प्रकाश, पर्व, परम्परा जैसे शब्दों की साख से लाभ उठाते हुए ही त्योहारों की खुशियों को केवल और केवल बढ़ाने का प्रत्येक प्रयास करें।

- शालीमार नगर, होशियारपुर

दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद और उसकी प्रासंगिकता

- सुश्री स्नेह लता

भारतीय संस्कृति का राष्ट्रवाद के साथ समन्वय कर उसे युगानुकूल रूप में प्रस्तुत करने तथा स्वतंत्र भारत की पुनःरचना के प्रयासों के लिए विशुद्ध भारतीय तत्वदृष्टि प्रदान करने वाले, दार्शनिक, विचारक, चिन्तक, लेखक, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, पंडित दीनदयाल उपाध्याय २५ सितम्बर १९१६ को मथुरा के नगला चन्द्रभान गाँव में ऐसे समय में जन्मे जब देश स्वतंत्रताप्राप्ति के लिए संघर्षरत था। एक ओर दीनदयाल जी ने अंग्रेजों के अत्याचारों को देखा दूसरी ओर भारतीय जनमानस में उमड़ते सपनों को देखा, उन्हें साकार करने की दिशा में स्वप्न संजोए। भविष्य की रूपरेखा तैयार की। उन्होंने हिन्दी-अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया। मेधावी होने के साथ-साथ राजनीति, आर्थिक नीतियों का गहन विश्लेषण किया।

राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार के संपर्क में आए। संघ के जीवनव्रती प्रचारक रहे। संघ के माध्यम से ही वह राजनीति में आए। २१ अक्टूबर १९५१ को डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई। १९५२ में उपाध्याय जी इसके महामंत्री बने। १९६७ में जनसंघ के अध्यक्ष बने। उनका सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रसेवा के लिए समर्पित रहा। वे सशक्त भारत की स्थापना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति और विचारधारा का मंथन कर एकात्म मानववाद की विचारधारा दी। उन्हें जनसंघ की आर्थिक नीति का रचनाकार भी माना जाता है।

दीनदयाल जी के शब्दों में-

भारत में रहने वाला और इसके प्रति ममत्व रखने वाला मानव-समूह एकजन है। उनकी जीवनप्रणाली कला, साहित्य, दर्शन सब भारतीय संस्कृति है। इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद का आधार यह संस्कृति है। इस संस्कृति में निष्ठा रहे तभी एकात्म रहेगा। उनकी निष्ठा, लगन, राष्ट्रभक्ति और समर्पण देखकर डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने कहा था।

मेरे पास दो दीनदयाल होते तो मैं देश की राजनीति का चरित्र बदल देता। सुदर्शन चक्रधारी मोहन से चरखाधारी मोहन तक जो सुनते आए है पंडित जी ने उसे आधुनिक अर्थों में प्रस्तुत किया है।

एकात्म मानववाद को उन्होंने सन् १९६४ में सर्वप्रथम बार जनसंघ के ग्वालियर अधिवेशन में प्रस्तुत किया। एकात्म किस प्रकार स्थापित किया

जा सकता है इसके लिए उन्होंने समय-समय पर अपने विचार रखे जिनका सार कुछ इस प्रकार है-

स्वतंत्र भारत की नीति-रीति क्या होगी- अंग्रेजों के शासनकाल में जितने आन्दोलन चलाए गए उनका उद्देश्य परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त होकर स्वतंत्र भारत की स्थापना था परन्तु स्वतंत्र भारत की नीति-रीति क्या होगी इस पर विचार करना भी आवश्यक है। सभी लोग एकमत नहीं हो सकते। विभिन्न दल मिलकर कोई गठबन्धन बना भी लेते हैं तो वह साँप-नेवला एक साथ जैसी ही स्थिति रहती है। पंडित जी ने इसे अहि-नकुल योग की संज्ञा दी। किसी एक स्तर पर हमें आत्माभिमुख होना पड़ेगा। जैसे किसी संकट के आने पर हम एकजुट होकर सामना करते हैं वही भाव भविष्य की प्रगति के लिए लाना होगा।

विश्व की प्रगति में शामिल हों- परतंत्रता में रहने पर स्व का भाव दब जाता है। उत्साह, उमंग, जोश शक्ति दब जाती है। इस हीनभावना को त्याग कर नवनिर्माण की दिशा का चिंतन करना है। राजनीति अवसरवादी एवं सिद्धान्तहीन लोगों की स्वार्थसिद्धि का अखाड़ा बन गई है। इसी का परिणाम है कि सभी दलों के प्रति जनता में उदासीनता है। इस स्थिति को बदलना होगा। बिना इसके समाज में एकता और व्यवस्था नहीं हो सकती। बहुत समय तक परतन्त्र रहने के कारण हमारा उद्देश्य स्वतंत्रताप्राप्ति ही रहा। अब आवश्यकता है कि हम अपनी प्रगति की गति को रफतार दें। हम विश्व की प्रगति में शामिल हों।

स्वदेशी की भावना अपनानी होगी- इसके लिए हमें स्वदेशी की भावना अपनानी होगी। अंग्रेजों की गुलामी करते करते हम अंग्रेजियत के पिछलग्गू बनकर रह गए हैं। हमें अंग्रेजियत का मोह त्याग कर अपनी दिशा निर्धारित करनी होगी। यदि पश्चिम की राजनीति का विश्लेषण करें तो वहां भी राष्ट्रवाद, प्रजातंत्र तथा समाजवाद की ही विचारधारा प्रमुख रही हैं। औद्योगिक क्रान्ति के कारण तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप सभी देशों में एक वैश्यवर्ग का प्रदुर्भाव हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप स्वतंत्र घर में रहकर काम करने वाला मजदूर अब कारखाने के मालिक के यहां नौकर बन गया। वह शोषण, अन्याय और अत्याचार का पर्याय बन गया। उत्पादन के संसाधनों पर किसी एक का स्वामित्व ही शोषण की जड़ है। हम एक ऐसे समाज का निर्माण करें जिसमें प्रकृति के अनुरूप सबका विकास हो।

भारतीय संस्कृति के अनुकूल अपने भारत का निर्माण करें- इसके लिए दो विचार हैं कि हम अपनी प्राचीन संस्कृति की ओर लौट चलें परन्तु यह संभव नहीं। समय के साथ हमने जो वैज्ञानिक प्रगति हासिल की है उसे छोड़ने पर विश्व के अन्य देशों से तालमेल बैठाना सहज नहीं होगा। आधुनिक बनाम पुरातन की बहस को छोड़कर अपने देशवासियों को अपनी परिस्थितियों के अनुसार कार्य करना होगा। प्रत्येक देश की अपनी ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति होती है और वहां के लोग उसी के अनुसार व्यवहार करते हैं भले ही देखने में सभी मनुष्य

एक जैसे दिखाई देते हैं। कहा जाता है कि आयुर्वेद में यह सिद्धान्त बताया गया है **यद्देशस्य यो जन्तुः तद्देशस्य तस्यौषधम्।** परन्तु शाश्वत सिद्धान्तों ओर स्थायी सत्यों का संबंध है। हम वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में जो सही है उसे देश की परिस्थितियों के अनुकूल ढालकर उन्हें व्यवहार में लाएं। स्वराज्य का स्वसंस्कृति से घनिष्ठ संबंध रहता है। हम भारतीय संस्कृति के अनुकूल अपने भारत का निर्माण करें।

भारतीय संस्कृति एकात्मवादी है- भारतीय संस्कृति की विशेषता है कि वह सम्पूर्ण जीवन का सम्पूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है। उसका विचार एकात्मवादी है। जीवन की विविधता अन्तर्भूत एकता का आविष्कार है इसलिए उसमें परस्पर अनुकूलता परस्पर पूरकता है। संसार में एकता के दर्शन कर उनके विविध रूपों के बीच परस्पर अनुकूलता परस्पर पूरकता का संस्कार करना ही संस्कृति है। संस्कृति प्रकृति की अवहेलना नहीं करती। मनुष्य की शाश्वत प्रवृत्तियाँ जो उसके विकास में हितकारी रहती हैं वही नीतिशास्त्र के नियम हैं और इन्हीं के अनुसार कार्य करना धर्म कहा गया है।

मन, बुद्धि, आत्मा और शरीर का समुच्चय ही एकात्म है- व्यक्ति को भी एकात्म कहा गया है। मनुष्य मन, बुद्धि आत्मा और शरीर का समुच्चय है। पश्चिम में आज जो समस्यायें हैं उनका कारण यह है कि उन्होंने जीवन के एक-एक हिस्से का विचार किया। भौतिकता की रेस में आगे निकलने के बाद भी उनके मन में शान्ति नहीं। तृष्णा सुख नहीं देती वह अतृप्ति की जननी है। इतनी समृद्धि पाकर भी वे सुखी नहीं हैं। हमारी संस्कृति में कहा गया है **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्- अर्थात् शरीर माध्यम है धर्म का।** पश्चिम से हमारी मान्यता में यही अन्तर है उन्होंने शरीर को साध्य माना हमने उसे साधन समझा। मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति उसकी कामनाओं और इच्छाओं की पूर्ति को पुरुषार्थ चतुष्टय-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अंतर्गत लक्ष्य रखा।

पुरुषार्थ चतुष्टय-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन का लक्ष्य- धर्म के अंतर्गत सभी नियमों, व्यवस्थाओं आचरण, संहिताओं तथा जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों का आर्विभाव होता है। धर्म से अर्थ की सिद्धि होती है क्योंकि यदि व्यापार भी करना हो तो ईमानदारी, संयम, त्याग, तपस्या, क्रोध पर नियंत्रण क्षमा सत्य आदि का निर्वाह करना पड़ेगा। बिना इन गुणों के व्यापार नहीं चल सकेगा। साधन के रूप में तो धर्म को मानना ही पड़ेगा। परन्तु जीवन केवल धर्म के सहारे नहीं चल सकता, अर्थ के अभाव में धर्म टिक नहीं पाता। कहा गया है **बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।** अर्थात् भूखा व्यक्ति कौन-सा पाप नहीं कर सकता। इसी प्रकार धन की अधिकता भी विलासिता का कारण बन जाती है जो कालान्तर में पतन का कारण बन जाती हैं। काम से आशय पुरुषार्थ से है, अंतिम लक्ष्य मन की शान्ति है।

जीवन का पूर्णता के साथ विचार ही एकात्म मानववाद- हमारी संस्कृति में व्यक्ति के जीवन

का पूर्णता के साथ विचार किया गया है। शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सभी के विकास का विचार किया, परन्तु यह ध्यान रखा कि एक भूख मिटाने के चक्कर में दूसरी भूख न पैदा कर लें। इसलिए चारों पुरुषार्थ का संकलित विचार हुआ है। यह पूर्ण मानव की, एकात्म मानव की कल्पना है। हमारे आराध्य और आराधना का साधन दोनों एक ही हैं।

व्यक्ति के साथ समाज एवं समष्टि को भी जोड़ना होगा- मानव केवल एक व्यक्तिमात्र नहीं है। शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा का समुच्चय व्यक्ति केवल एकवचन में एक सीमित नहीं। उसका अनेक वचन हमसे भी अभिन्न संबंध है। अत: समाज एवं समष्टि को भी उसमें जोड़ना होगा। व्यक्तियों से मिलकर समाज बनता है परन्त समाज की भी अपनी हस्ती होती है। व्यक्ति के विचार करने का तरीका और समाज के विचार करने का तरीका इन दोनों में हमेशा अंतर होता है। परन्तु एक साथ एक वातावरण में बहुत समय तक साथ रहते-रहते उनके सोचने विचारने की एक पद्धति बन जाती है।

राष्ट्र के साथ मातृभाव आवश्यक- परन्तु इतने से ही राष्ट्र नहीं बनता। जब कोई मानव-समुदाय किसी भूमिविशेष को मातृभाव से देखता है तो वह राष्ट्र कहलाता है। राष्ट्र की भी एक आत्मा होती है व्यक्ति राष्ट्र की आत्मा को प्रकट करने का एक साधन है। राष्ट्र के सुचारू संचालन के लिए हमारी संस्कृति में प्रमुख आधार धर्म को माना गया। परन्तु यहाँ धर्म का तात्पर्य किसी मज़हब या रिलीजन से नहीं है। धर्म की परिधि में सम्पूर्ण मानवता सन्निहित है। धर्म प्रजातन्त्र अथवा बहुमत में नहीं। धर्म के शासन में जनता का शासन जनता के हित में होना चाहिए। इसके लिए पंचायती शासन सबसे सही उपाय हो सकता है।

श्रेष्ठ राष्ट्र कैसे बने- श्रेष्ठ राष्ट्र बनाने के लिए आवश्यक है कि प्रकृति से हम उतना ही लें जितने की कमी प्रकृति स्वयं पूरी कर ले या हम स्वयं उसकी प्रतिपूर्ति कर दें। राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थ रचना होनी चाहिए। पश्चिमी सभ्यता ने उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ा दिया है। आज ज़िन्दगी में पैसा कमाने की एक होड़-सी लगी है। रघुवंश में राजा दिलीप का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है कि जिस भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा उसकी व्याख्या यही है कि **भरणात् रक्षणात् च** अर्थात् भरण और रक्षण के कारण भरत कहलाता था। **भरण और रक्षण की जब सही व्यवस्था होगी तभी देश का नाम भारत सार्थक सिद्ध होगा।** इसके लिए आवश्यक है कि-

शिक्षा समाज का दायित्व बने। सभी बच्चों को विद्यालय भेजने की व्यवस्था हो। नि:शुल्क चिकित्सा की सुविधा हो। जीवन के न्यूनतम संसाधनों जैसे रोटी, कपड़ा और मकान पाने का सभी को अधिकार मिले। इसके लिए अवश्यक है कि सबको काम और रोजगार के अवसर प्राप्त हों। आज मनुष्य पर मशीन का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है। मशीन सुख का साधन अवश्य है पर खाली दिमाग शैतान का घर होता है। मशीन हमारी

आवश्यकताओं के अनुकूल ही होनी चाहिएं। प्रो. विश्वैश्वरैया ने लिखा है कि आर्थिक दृष्टि से उत्पादन-प्रणाली का विचार करते समय हमें **सात मकारों को ध्यान में रखना चाहिए**-

मैन, मैटीरियल, मनी, मोटिव पावर, मैनेजमैन्ट, मार्केट, मशीन।

मैन- काम करने वाले को या जिनको काम मिलना चाहिए उन व्यक्तियों की संख्या, योग्यता और उनके तकनीकी ज्ञान का विचार करना चाहिए।

मैटीरियल- कच्चे माल को जो प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं या जिनकी उपलब्धता संभव हो उनका विचार करना होगा।

मनी- हमारे पास कितनी पूंजी है, उस पूंजी के कितने भाग को किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है, उस पूंजी को अधिकतम लाभ के लिए अच्छे से अच्छे किस काम में लगाया जा सकता है। पूंजी का कितना भाग, स्थाई रूप में लगाया जा सकता है और कितनी पूंजी को सामान्य काम चलाने के लिए हाथ में रखना आवश्यक है।

मोटिव पावर- देश के प्राकृतिक संसाधनों जैसे पैट्रोल, डीजल, बिजली, पानी, हवा, खनिज पदार्थ अणुशक्ति से मशीनें संचालित की जाती हैं परन्तु कितना इनका प्रयोग करना है इस पर भी विचार करना होगा।

मैनेजमैन्ट- कुशल प्रबन्धन किसी भी संस्था को चलाने की प्रथम आवश्यकता होती है। समय, कार्यक्षमता, उचित निर्णय यह मैनेजमैन्ट के अंग हैं।

मार्केट- वस्तु का उत्पादन बाजार में खपत का विचार करके होना चाहिए।

मशीन- उपरोक्त कार्यों के संचालन के लिए मशीन के निर्माण उसके आयात-निर्यात और प्रौद्योगिकी के विकास को निरन्तर बनाए रखना होगा। तेजी से बदलते वैज्ञानिक परिवेश में नई-नई मशीनों से जुड़ना आवश्यक हो जाता है।

परन्तु इन सबका इस प्रकार निर्धारण हो जिससे पूर्ण रोजगार का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। व्यक्ति के रोजगार का लक्ष्य पूर्ण एकात्म के रूप में रखा जाए। अर्थ के पीछे दौड़ते मानव को मशीन न मानकर उसमें मानवीय मूल्यों के अनुसार जीवन जीने की सुविधा होनी चाहिए जिसमें वह स्वयं के साथ-साथ समाज और राष्ट्र के साथ भी प्रेम अनुभव कर सके।

दीन दयाल जी के अनुसार हमारी अर्थव्यस्था का उद्देश्य इस प्रकार होना चाहिए-

१. प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम जीवन जीने की आश्वस्ति तथा राष्ट्र की सुरक्षा-सामर्थ्य की व्यवस्था।

२. सुरक्षा-व्यवस्था के उपरान्त उत्तरोत्तर समृद्धि, जिससे व्यक्ति और राष्ट्र को वे साधन उपलब्ध हो सकें, जिससे वे अपनी क्षमता और प्रसन्नता चिति के आधार पर विश्व की प्रगति में योगदान कर सकें।

३. प्रत्येक स्वस्थ एवं सवय व्यक्ति को रोजगार के अवसर प्रदान करना तथा प्राकृतिक साधनों का मितव्ययता के साथ प्रयोग करना।

४. राष्ट्र के उत्पादक उपादानों सात मकारों का

विचार कर अनुकूल प्रौद्योगिकी का विकास करना।

५. यह व्यवस्था मानव की अवहेलना न कर उसके विकास में साधक हो तथा समाज के सांस्कृतिक एवं अन्य जीवन-मूल्यों की रक्षा करे।

६. विभिन्न उद्योगों में राज्य, व्यक्ति तथा अन्य संस्थाओं के स्वामित्व का निर्धारण व्यावहारिक आधार पर हो। इसके लिए हमें विदेशों पर निर्भर न रहकर स्वदेशी को अपनाना होगा। स्वदेशी के भावात्मक रूप को समझ कर हमें उसके सृजन का आधार तथा अवलम्ब बनना चाहिए।

अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के लिए **स्वदेशी और विकेन्द्रीकरण को अपनाता होगा।** प्रजातन्त्र के लिए विविधता उसकी एकता में बाधक नहीं होती। भारत की प्राचीन गौरवशाली परम्परा से ज्ञान लेकर, वर्तमान से विज्ञान लेकर अपनी ऊर्जा और निष्ठा को समर्पित कर विश्व में उच्च स्थान दिलाने की एकात्म मानव की विचार-धारा रखी।

जब जनसंघ की स्थापना हुई तब दीनदयाल जी ने जनसंघ की आर्थिक नीतियों में स्वदेशी स्वावलम्बन, भूमि-व्यवस्था में परिवर्तन, आमजन को स्वावलम्बी बनाने के लिए कुटीर उद्योग-धन्धों का विकास, श्रम का अधिकार, प्राकृतिक संसाधनों का सीमित उपयोग, कृषि का उत्पादन आदि विषयों को शामिल किया था। देश की आज़ादी के समय उन कठिन परिस्थितियों से देश को आत्मनिर्भर बनाने में यह नीतियाँ महत्वपूर्ण योगदान कर सकती थीं परन्तु वैचारिक मतभेद के कारण इन नीतियों को महत्त्व नहीं दिया गया।

दीनदयाल जी के एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता- परन्तु अब परिस्थिति बदल चुकी है। आज देश में भारतीय जनता पार्टी की सरकार है जो दीनदयाल जी के एकात्म मानववाद को अपना वैचारिक दर्शन मानती है जो आज भी प्रासंगिक हैं। आदरणीय प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी ने आत्मनिर्भर भारत अभियान की शुरुआत की, जिसके मूल में दीन दयाल जी के विचारों की ही प्रेरणा है। उन्होंने आत्मनिर्भर भारत बनाने के लिए पाँच स्तम्भों का ज़िक्र किया- अर्थव्यवस्था, इन्फ्रास्ट्रक्चर, सिस्टम टैक्नोलॉजी, ड्रिवन व डिमान्ड और सप्लाई।

आत्मनिर्भर भारत को सफल बनाने हेतु निम्न योजनाएं बनाई हैं-

वोकल फॉर लोकल- दीनदयाल जी ने अर्थिक विकेन्द्रीकरण की महत्ता पर बल दिया। प्रधानमंत्री जी ने स्थानीय वस्तुओं की महत्ता को समझते हुए लोकल प्रोडक्ट खरीदने तथा उसका प्रचार करने का आह्वाहन किया जिससे स्थानीय स्तर पर उपलब्ध कच्चे माल से वस्तुओं का निर्माण हो सकेगा तथा रोजगार की तलाश में लोगों को इधर-अधर भटकना भी नहीं पड़ेगा।

दीनदयाल स्पर्शयोजना- इस योजना के अंतर्गत फिलैटिली क्षेत्रों में रुचि रखने वाले छात्रों को वार्षिक स्कॉलरशिप प्रदान की जाएगी जिससे वह फिलैटली क्षेत्र में शोध कर सकें और उन स्टैम्प्स को इकट्ठा करके उनका प्रचार-प्रसार कर सकें।

इससे हमारी संस्कृति के संरक्षण को बढ़ावा मिलेगा। इस योजना में कक्षा ६ से लेकर कक्षा ९ तक के मेधावी छात्र भाग ले सकेंगे।

दीनदयाल स्वरोजगार योजना- इस योजना के अंतर्गत अनुसूचित जातियों के अभ्यर्थियों को स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराए जा रहे हैं। इसमें दस हजार रूपए का अनुदान, योजना लागत का २५ फीसदी मार्जिन मनी ऋण एक लाख से ऊपर चार फीसदी दर पर तथा शेष धनराशि बैंक ऋण के रूप में उपलब्ध कराई जाएगी।

दीनदयाल उपाध्याय ग्रामीण कौशल्य योजना डी डी यू-जी के वाई- यह योजना गरीबी कम करने के लिए एक मिशन है। गरीब ग्रामीण युवाओं को नौकरियों में नियमित रूप से न्यूनतम मजदूरी के बराबर या उससे ऊपर मासिक मजदूरी प्रदान करने का लक्ष्य रखा गया है। यह मेक इन इंडिया के प्रमुख योगदान कर्ता के रूप में है। इस योजना में कौशल विकास केन्द्र में प्रशिक्षण प्रदान कर स्थाई रोजगार को प्रदान करना लक्ष्य है।

यह योजना मुख्य रूप से उन गरीब परिवार के युवाओं के लिए है जिनकी आयु १५ से ३५ वर्ष के बीच है। सरकार के सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रमों जैसे स्मार्ट सिटी और स्टार्ट अप इंडिया, मेक इन इंडिया, डिजिटल इंडिया और स्टैन्ड अप इंडिया के अभियानों को सफल बनाने के लिए हैं। यह योजना भागीदारों को क्षमता, निर्माण, रिटैंशन के लिए स्ट्रैटजी, निवेश, प्रशिक्षण, प्रौद्योगिकी और अंतर्राष्ट्रीय प्लेसमैन्ट के लिए लिंक के माध्यम से जोड़ती है।

दीनदयाल अंत्योदय योजना- यह योजना शहरी तथा ग्रामीण दोनों ही जगह के गरीब नागरिकों की गरीबी दूर करने के उद्देश्य से बनाई गई है। यह प्रधानमंत्री के रोजगार गारंटी योजना जैसी ही है जो स्किल डैवलैपमेंट के साथ रोजगार प्रदान करने की गारंटी प्रदान करती है। इस योजना में सड़क, पुल, निर्माण में मजदूरी देकर रोजगार प्रदान करना है।

दीनदयाल उपाध्याय ग्राम ज्योति योजना डी.डी.यू-जी.जे.वाई- यह योजना पूरे ग्रामीण भारत को निरन्तर बिजली आपूर्ति प्रदान करने के उद्देश्य से बनाई गई है जिससे मेक इन इंडिया स्किल डेवलपमैन्ट इन इंडिया के कार्यों में बाधा न उत्पन्न हो। यह योजना विद्युत मंत्रालय के प्रमुख कार्यक्रमों में से एक है। यह बिजली की २४*७ आपूर्ति को सुगम बनाएगी।

श्रमिक हॉस्टल योजना- बड़े शहरों में निर्माण के कार्य, फैक्ट्रियों में कार्य करने वाले मजदूर अन्य श्रमिक गाँवों से पलायन करके शहर आते हैं जहां उनके रहने, उनके बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन की किसी प्रकार की कोई सुविधा नहीं होती। वह झुग्गी झोंपड़ी बनाकर मलिन बतियों में रहने को मजबूर हैं। अब सरकार उनके लिए सस्ते किराए के मकान बनवाने तथा श्रमिक हॉस्टल बनाने की सोच रही है।

इसके अतिरिक्त नरेन्द्र मोदी सरकार ने कई ऐसी नीतियों को लागू किया है जो गाँवों को विकास के रास्ते पर ले जाने के लिए सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं जैसे- ई मंडी,

डिजिटल इंडिया, सौर ऊर्जा योजना, जनधन योजना, स्वच्छ भारत मिशन, उज्ज्वला योजना, आयुष्मान् भारत योजना आदि। इसके अतिरिक्त गाँवों में रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए पशुपालन और बांस की खेती को भी बढ़ावा दिया है।

देश की अर्थव्यवस्था सुधारने के लिए गरीब, बेरोजगारों, कामगारों, किसानों के हित में सरकार ने बहुत बड़े आर्थिक पैकेज की घोषणा की जिससे हम एक नए भारत, आत्मनिर्भर भारत का निर्माण कर सकें। आर्थिक पैकेज की बड़ी विशेषता यह है कि यह किसी विशेष आर्थिक क्षेत्र के लिए नहीं है बल्कि इस पैकेज में किसान, श्रमिक छोटे मंझोले व्यापारी को शामिल किया गया है।

सन् २०२० में सम्पूर्ण विश्व जिस कोरोना संकट से गुज़रा है उसने बहुत समृद्ध, शक्तिशाली देशों की नींव हिलाकर रख दी। परन्तु हमारे देश में प्रधानमंत्री जी ने दीनदयाल जी के एकात्म मानववाद के सिद्धान्तों पर देश की आर्थिक नीतियाँ बनाई, जिनके आधार पर मजदूरों के पलायन की भीषण समस्या और गिरती हुई अर्थव्यवस्था का कुशल प्रबन्धन हो सका। एकात्म मानववाद के सिद्धान्तों के मूल में हमारे देश की संस्कृति में आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता ही है जो संकट की इस घड़ी से धैर्यपूर्वक हमें बाहर निकालने में सफल रही।

इस प्रकार दीनदयाल उपाध्याय जी के एकात्म मानववाद के विचार आज भी प्रासंगिक हैं। उनके बताए सिद्धान्तों पर चलकर हम अवश्य ही आत्मविश्वासी भारत, आत्मनिर्भर भारत का निर्माण करेंगे जिसमें हमारी संस्कृति का दैवी, शाश्वत और प्रवहमान रूप होगा और हमारा देश विश्व के लिए प्रेरणास्रोत सिद्ध होगा।

– १/३०९, विकास नगर, लखनऊ-226022 मो. 9450639976

संस्थान-समाचार

दान-

सर्वश्री बैजनाथ भण्डारी चेरिटेबल ट्रस्ट, ई-२२, डिफैंस कॉलोनी, नई दिल्ली।	२०,०००/-
डॉ. एस. के. रिहानी, १६१७, सैक्टर-४४ बी, चण्डीगढ-१६००४३।	५०००/-
श्री एम.पी.बीर, 18-सी, विजय नगर, दिल्ली।	११००/-

हवन-यज्ञ - संस्थान की शुभचिन्तक श्रीमती ममता सूरी द्वारा अपने भाई स्व. गौरवभल्ला (सुपुत्र श्री देवकृष्ण भल्ला) जिनकी मृत्यु २४-७-२०२१ को हुई थी उनकी आत्मा की शान्ति के लिए संस्थान की यज्ञशाला में २६-१०-२०२१ का हवन करवाया गया। इसमें संस्थान के सभी कर्मिष्ठों ने भाग लिया तथा प्रभु से स्व. श्री गौरव भल्ला की आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना की। अन्त में शान्ति पाठ किया गया।

बधाई - पंजाब विश्वविद्यालय पटल से सेवानिवृत्त अध्यापक श्री भद्रसेन जी के पोते चिरंजीव अक्षत का शुभ विवाह आयुष्मती माधवी के साथ ४-१०-२०२१ को होशियापुर में संम्पन्न हुआ। संस्थान के सभी कर्मिष्ठों की ओर से संबंधित परिवार को बहुत-बहुत बधाई। नव-दम्पती सुखी, स्वस्थ रहे, यही सभी की शुभकामनाएँ हैं।

शोक समाचार- संस्थान की प्रैस के भूतपूर्व मैंनेजर श्री मोहन लाल (सुपुत्र श्री मस्तराम जी) का गांव पंडोगा (हि.प्र.) में १२-१०-२०२१ को ७६ वर्ष की आयु में देहान्त हो गया। आपने संस्थान की प्रैस में बहुत लम्बे समय तक बड़ी लगन और मेहनत से काम किया। संस्थान के सभी कर्मिष्ठों की ओर से दु:खी परिवार के साथ समवेदना है और प्रभु से प्रार्थना है कि उनकी आत्मा को शांति प्रदान करें तथा दु:खी परिवार को इस दु:ख को सहने की शक्ति दें।

संस्थान के बहुत ही कर्मठ और सज्जन भूतपूर्व कर्मिष्ठ श्री बलवीर सिंह का १५-१०-२०२१ को गांव बज़वाडा, होशियारपुर में देहान्त हो गया। आप संस्थान के पुस्तक-विक्रय विभाग में काम करते थे। आप पिछले कई वर्षों से बीमार चल रहे थे। आप मेहनती और काम के प्रति लग्न वाले कर्मिष्ठ थे। आप अपने पीछे भरा-पूरा परिवार छोड़ गये हैं। आपके निधन पर संस्थान के सभी कर्मिष्ठों को अत्यन्त दु:ख हुआ। सभी की उनके परिवार के प्रति समवेदना है। प्रभु से प्रार्थना है कि वह उनकी आत्मा को शान्ति दे।

बड़ा खेद है कि पंजाब विश्वविद्यालय पटल के प्रोफैसर स्व. श्री राज कुमार जी की धर्मपत्नी पुष्पा रानी का १०-११-२०२१ को होशियारपुर में देहान्त हो गया। आप कई वर्षों से बीमार चल रही थीं। आप धार्मिक, मिलनसार सरल स्वभाव की महिला थीं। आप अध्यापिका-पद से सेवामुक्त हो चुकी थीं। इस दु:ख के अवसर पर संस्थान के कर्मिष्ठों की ओर से शोकाकुल परिवार के साथ समवेदना है। प्रभु से सभी की प्रार्थना है कि वह उनकी आत्मा को शान्ति दे तथा दु:खी परिवार को इस दु:ख को सहने की शक्ति दें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॐ

अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम्।
तेन तान्निर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हति।।

महाभा. आदिपर्व १.२५१

संसार में जो कुछ है, जो हो चुका है तथा जो होगा अर्थात् जो कुछ दिखाई दे रहा है। इन सभी का बनाने वाला काल अर्थात् समय है। यह सोचकर व्यक्ति को कभी भी दु:खी नहीं होना चाहिए। संसार में सब कुछ उस परमात्मा के अधीन है।

हार्दिक शुभ कामनाओं सहित :

प्रयोजक :

सर्वश्री बैजनाथ भण्डारी सार्वजनिक धर्मार्थन्यास

ई-२२, डिफैन्स कालोनी,

नई दिल्ली-११००२४

विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते ।
कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे।।

महाभा. आदिपर्व २.२४७

विधाता का यह अकाट्य नियम है कि जो होना है, वह होकर ही रहेगा। उसको न कोई टाल सकता है और न उसमें परिवर्तन ही कर सकता है। सुख-दुःख सब काल अर्थात् उस परमात्मा के अधीन हैं।

हार्दिक शुभ कामनाओं सहित

प्रयोजक :

डॉ. श्रवण कुमार रिहानी
१६१७, सेक्टर - ४४ बी,
चण्डीगढ़।

कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः।।

महाभा. आदिपर्व १.२५०

संसार में समय के अनुसार सब कुछ होता रहता है। मनुष्य भले ही किसी वस्तु को भूल जाये, परन्तु काल (समय)सर्वदा सजग रहता है वह अपने समय पर सब कुछ करता रहता है। समय (काल) के लिए कोई अपना-पराया नहीं होता, वह तो सब से समान भाव से व्यवहार करता है और समय सब कुछ समय आने पर ही करता है

❋

अपने पूज्य पिताश्री

स्व. श्री गंगाराम जी बीर

(जिनका निधन 20-10-1977 को हुआ)

तथा

पूज्या माताश्री

स्व. श्रीमती सुशीला देवी जी बीर

(जिनका निधन 14-5-1989 को हुआ)

की

पुण्यस्मृति में **सादर समर्पित**

प्रयोजक :

श्री एम. पी. बीर (पुत्र)

18-सी, विजय नगर, दिल्ली-110 009